भारतेन्दु-युग

लेखक
डाक्टर रामविलास शर्मा
एम. ए., पी-एच. डी.

प्रकाशक
विनोद पुस्तक मन्दिर,
हॉस्पिटल रोड, आगरा

श्री केदारनाथ अग्रवाल को

दूसरे संस्करण की भूमिका

भारतेन्दु-युग के इस रेखाचित्र को विकसित करके मैं उस युग का इतिहास लिखूँ, यह इच्छा अपने जीवन की विशेष परिस्थितियों के कारण मैं अभी तक पूरी नहीं कर पाया। इस बीच में भारतेन्दु-युग सम्बन्धी और भी सामग्री मुझे देखने को मिली है जिससे इस पुस्तक की मूल स्थापनाओं को और भी बल मिलता है। मैं अपनी पीढ़ी के लेखकों से सिफ़ारिश करूँगा कि वे और भी तत्परता से भारतेन्दु-युग के गद्य-साहित्य का अध्ययन करें। हिन्दी सीखने और शैली को निखारने के लिये उन्हें सबसे अच्छे शिक्षक उसी युग में मिलेंगे। हिन्दी आलोचकों से मैं निवेदन करूँगा कि वे भारतेन्दु-युग के लेखकों पर अलग-अलग पुस्तकें लिखने की तरफ़ ध्यान दें और उनकी अप्रकाशित रचनाओं को प्रकाश में लाने का प्रयत्न करें। इससे भारतीय संस्कृति के इतिहास को समझने में मदद मिलेगी।

पुस्तक के अन्त में भारतेन्दु की रजत-जयन्ती के अवसर पर लिखा हुआ अपना एक लेख मैंने जोड़ दिया है।

आगरा
२६ अप्रैल '५२

रामविलास शर्मा

निवेदन

यह पुस्तक भारतेन्दु-युग का इतिहास नहीं है। उसका एक रेखाचित्र कहना भी इसको अत्यधिक महत्व देना होगा। मैंने उस युग के साहित्य को जो थोड़ा बहुत पढ़ा है, उससे इतना समझता हूँ कि उसका इतिहास लिखने के लिये ऐसी कई पुस्तकों की आवश्यकता होगी। इस अधूरे रेखा-चित्र की सार्थकता इस कारण है कि अभी भारतेन्दु-युग का अलग से कोई इतिहास लिखा नहीं गया। उसके अनेक महारथियों पर अलग अलग पुस्तकों की गुञ्जाइश है। जब तक यह सब नहीं होता तब तक हिन्दी साहित्य का विकास क्रम समझने के लिये इतने ही से सन्तोष करना होगा। भारतेन्दु ने स० १६२५ में "कवि वचन-सुधा" का प्रकाशन आरम्भ किया था। सम्वत् १६५७ में "सरस्वती" का प्रकाशन आरम्भ हुआ। इन्हीं तीस चालीस वर्षों की अवधि में भारतेन्दु-युग सीमित है। इन वर्षों में आधुनिक हिन्दी भाषा और साहित्य की नींव डाली गई। यह स्वाभाविक है कि किसी बीते युग के बारे में लिखते हुए हमारा ध्यान अपने युग और उसकी समस्याओं की ओर भी जाय। यदि मुझे भारतेन्दु-युग से आज के युग का एक घनिष्ठ सम्बन्ध न दिखाई देता तो मैं यह पुस्तक अभी न लिखता। यह सोचकर कि आज की समस्याओं को सुलझाने के लिये हमें उस युग से कुछ प्रेरणा मिल सकती है, मैंने इसे लिखना आरम्भ किया था।

भारतेन्दु-युग की बहुत सी बहुमूल्य सामग्री पुरानी पत्रिकाओं में बन्द पड़ी है। उस समय की प्रकाशित पुस्तकें कठिनता से काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा के पुस्तकालय में भी मिलती हैं। उस समय के साहित्य का प्रकाशन रिसर्च की दृष्टि से ही नहीं, शुद्ध साहित्यिक दृष्टि से भी, शीघ्र किया जाना चाहिये। हिन्दी साहित्य-सम्मेलन ने 'प्रेमघन-सर्वस्व' नामक कविता-संग्रह छापा है। इसका कागज मोटा और कीमती है। मोटी खद्दर की जिल्द है। मूल्य है ४॥)। प्रेमघनजी की कविताओं का पूरा संग्रह नहीं है, केवल प्रथम भाग है। शायद न पहला भाग बिकेगा और न दूसरा भाग प्रकाशित होगा। ऐसे ही अनेक सज्जनों के दान से भारतेन्दु की कविताओं का एक कीमती संग्रह छपा है। भारतेन्दु-युग के लेखक अपनी पत्र-पत्रिकाओं और पुस्तकों का मूल्य औसत चार आने या आठ आने रखते थे। प्रतापनारायण मिश्र के प्रसिद्ध पत्र 'ब्राह्मण' का मूल्य ≈) था। उन लोगों ने साधारण जनता में प्रचार के लिये अपना साहित्य रचा था। कीमती सजिल्द पुस्तकों में बन्द करके रखने के लिये नहीं—जिल्द चाहे खद्दर की ही क्यों न हो। उनके साहित्य को साधारण जनता के लिये अप्राप्य मूल्य में प्रकाशित करना पाप है। बङ्गाल में जैसे बङ्किमचन्द्र, मधुसूदनदत्त आदि ग्रन्थ सस्ते दामों में सुलभ हैं, वैसे ही ऊपरी तड़क भड़क का विचार छोड़कर सस्ते मूल्य में उस साहित्य को सबके लिये प्रकाशित कर देना चाहिये। विशेषकर उस समय की गद्य रचनाओं को शीघ्र ही पुस्तक रूप में जनता तक पहुँचाना चाहिये।

व्याकरण और शैली की दृष्टि से भारतेन्दु-युग के गद्य का अशेष विवेचन हो चुका है। इसलिये मैंने उस पर विशेष कुछ नहीं लिखा। मैंने पाठकों का ध्यान उन बातों की ओर अधिक आकर्षित किया है जिन्हें तब के लेखक जनता तक पहुँचाना चाहते थे। द्विवेदी युग में भाषा का अच्छी तरह से संस्कार हो गया। परन्तु उस काट-छाँट में उसकी सजीवता भी थोड़ी बहुत छँट गई। आज के लेखकों से अनुरोध है कि वे तब की भाषा का वह भाग छोड़ दें जो अनगढ़ है, वे उसके सवेग प्रवाह को देखें जिसमें व्यग्य और हास्य की कलकल ध्वनि गूँज रही है। आलोचना, दर्शन, विज्ञान आदि के लिये यह शैली उपयुक्त नहीं है, न तब ही इन विषयों पर लिखते समय उसका

प्रयोग किया गया था। जो बातें हम साधारण पाठकों के लिये लिखते हैं, उनमें उस शैली को अपनाना वाञ्छनीय है।

मुझे इस पुस्तक के लिखने में पं० श्रीनारायण चतुर्वेदी तथा अपने मित्र श्री ब्रजकिशोर मिश्र और श्री प्रेमनारायण टण्डन से अनेक प्रकार की सहायता एवम् प्रेरणा मिली है। इसके लिये मैं उनका कृतज्ञ हूँ।

काशी नागरी-प्रचारिणी-सभा के "मिसिरजी" का अलग से उल्लेख करना आवश्यक है। पारसाल गर्मी के दिनों में यही मुझे आर्यभाषा पुस्तकालय में विविध पाठ्य सामग्री खोजकर दिया करते थे। कभी कभी द्विवेदी जी की अल्मारियों में पुस्तकें ढूँढते ढूँढते उनके माथे पर श्रमबिन्दु झलकने लगते थे, कभी कभी पीठ पसीने से तर हो जाती थी। मिसिरजी का काम पुस्तकालय की देखभाल करना और पुस्तकें निकालकर देना था। हिन्दी साहित्य और साहित्यिकों के बारे में उनकी जानकारी अद्भुत थी। सुधाकर द्विवेदी के बारे में वह ऐसे बातें करते थे जैसे जनम से ही उनकी जीवन-कथा सुनते आये हों। पुराने साहित्यिकों के बारे में जानकारी और जानने की उत्सुकता जैसी मैंने मिसिरजी में देखी, वैसी "विद्वानों" में कम देखी है। आशा है, उन्हें अपने परिश्रम को इस पुस्तक के रूप में देखकर प्रसन्नता होगी।

विषय-सूची

भारतेन्दु-युग और जनसाहित्य

आज हमारे सामने बहुत कुछ वही समस्याएँ फिर आ गई हैं जो भारतेन्दु-युग के लेखकों के सामने थीं। तब के लेखकों ने उन समस्याओं को सुलझाया था, उस समय की परिस्थितियों का संगठित रूप से सामना किया था और उस संघर्ष में उन्हें सफलता मिली थी। आज की समस्याओं को हम भी अपने ढंग से सुलझा रहे हैं परन्तु बहुत कुछ असंगठित रूप में; विजय-कामना जितनी बलवती है, उतनी निःस्वार्थ सेवा और त्याग की भावना नहीं है। भारतेन्दु-युग को हिन्दी का शैशव-काल कहकर हम नहीं टाल सकते, उसकी जिंदादिली की थोड़ी सी प्रशंसा करने से उसका मूल्य नहीं आँका जा सकता। सब भाइयों को बुलाकर भारत के लिये रोने के सिवा भी उस युग में बहुत कुछ है। वास्तव में ऐसा सजीव और चेतन युग हिन्दी में एक ही बार आया है। उस युग के तपस्वियों को जो सफलता मिली वह तो बड़ी है ही, उससे भी बड़ी उनकी साधना है जो अगली पीढ़ियों को बराबर उत्साहित करती रहेगी।

अब से कुछ दिन पहले इस युग का मूल्य आँकना कठिन भी था। साहित्य में जिस मनोवृत्ति की प्रधानता थी, उसके अनुसार उस युग की क्रियाशीलता उथली उथली लगती थी, परन्तु अब युग ने फिर पलटा खाया है और साहित्य की यह मनोवृत्ति एक आडम्बर मात्र जान पड़ती है। संक्षेप में, आज साहित्य के आगे जन-हित की समस्या प्रधान है; इसी हित को देखकर भाषा का रूप भी निश्चित हो रहा है। जन-हित को ही ध्यान में रखकर सामाजिक संस्कृति स्थिर हो रही है। द्विवेदी काल तथा छायावादी युग में यह बात पीछे पड़ गई थी। इसमें कोई संदेह नहीं कि भारतेन्दु-युग की भाषा में संस्कार की आवश्यकता थी और उसकी संस्कृति समाज-हित के साँचे में पूरी पूरी न ढल पाई थी, परन्तु पीछे भाषा-संस्कार और साहित्यिक संस्कृति ने जो रूप धारण किया, वह जन-हित की भावना से बहुत कुछ दूर था। भारतेन्दु-युग को पुनर्जीवित करने की आवश्यकता नहीं है; उस युग की निर्बलताओं को रंग-चुन करके सजाने की भी आवश्यकता नहीं है। हमें केवल इतिहास को क्रमबद्ध करके उससे अपना शृङ्खला सम्बन्ध समझ लेना चाहिये।

सन् '५७ के विद्रोह के बाद जब भारत का राज्य कम्पनी बहादुर के हाथ से महारानी विक्टोरिया के हाथ में आ गया तो बहुत लोग समझे कि उस शासन-परम्परा का—जिसे जॉन ब्राइट ने 'प हंड्रड ईयर्स ऑव क्राइम' कहा था—अब अन्त हो गया। महारानी के लिये जो घोषणापत्र पहले तैयार किया गया था, उसे उन्होंने अस्वीकार कर दिया और उससे अधिक सहृदयतापूर्ण घोषणापत्र तैयार कराया। उसमें भारतवासियों को मधुर मधुर आश्वासन दिये गये और डलहौजी आदि की नीति को देखते हुए उस समय लोगों को ये आश्वासन और भी मधुर लगे होंगे, इसमें संदेह नहीं। विद्रोह के पहले अँग्रेज जिस प्रकार छोटे छोटे राज्य हड़प चुके थे और विद्रोह में और उसके पश्चात् उन्होंने अपना जो अप्रिय रूप दिखाया था, उसकी याद कर लोगों ने उन सब बातों से इन आश्वासनों की तुलना की और उनका हृदय

गद्‌गद्‌ हो गया। कवियों के कंठ से प्रशस्तियाँ फूट पड़ीं और प्रजा ने अपने आप को महारानी विक्टोरिया की आधीनता में समझकर सुख की साँस ली और अपना भाग्य सराहा। प्रजा के बहुत से शुभचिंतकों ने सोचा कि बस प्रार्थनापत्र भेजने की देर है। सुनवाई हुई नहीं कि सभी क्लेश मिट गये। भारतेन्दु-युग का बहुत सा साहित्य राजभक्ति के भावों से पूर्ण है; उसका यही रहस्य है। विद्रोह से पहले के कम्पनी-राज्य की तुलना में लोगों ने महारानी विक्टोरिया के शासन को एक भिन्न वस्तु माना और वे समझे कि उन्हें सभी प्रकार की स्वतन्त्रता इस शासन में सुलभ है। बहुत से लोग इस आनन्द में मगन होकर प्राचीन आर्य वीरता के गीत गुनगुनाने लगे परन्तु यह तंद्रा बहुत काल तक न रही; शीघ्र ही अकाल, महामारी, टैक्स, बेकारी आदि साम्राज्यवाद की विभूतियों ने उन्हें जगा दिया। जैसा कि "सार-सुधानिधि" के सम्पादक को किसी ने पत्र में लिखा था—"टैक्स पर टैक्स, अकाल पर अकाल और मरी पर मरी यहीं देखी जाती है। नित्य नये नये आईनों से बेधा जाता है और नित्य नई स्पीचों से नोन छिड़का जाता है।" भारतेन्दु-युग के साहित्य में यह जागरण भली भाँति व्यक्त हुआ है।

किसानों के लिये विद्रोह के बाद जो "बन्दोबस्त" हुआ था, उसमें अँग्रेज लेखकों के ही अनुसार बहुत बार लगान खूब ऊँचा चढ़ाकर आँका गया था। मध्यप्रदेश में जब यह बन्दोबस्त हुआ तो चार्ल्स इलियट, चार्ल्स ग्रान्ट, ए० रसेल, और कर्नल मैक्लीन आदि अँग्रेजों ने ही उसका विरोध किया। बम्बई में जो बन्दोबस्त हुआ, उसकी सर ऑकलैंड कॉल्विन जैसे उत्तम वर्ग के लोगों ने भी निन्दा की। गवर्नर जनरल की सभा में सर विलियम हन्टर ने तो स्पष्ट कह दिया कि सरकार ने लगान इतना बढ़ा दिया है कि किसानों के पास अपना और अपने कुटुम्ब का पेट पालने के लिये कुछ बचता ही नहीं। लगान की विपत्ति के साथ दैवी प्रकोप भी हो गया तो किसान बेमौत मरे। यह समझ कर कि बिना लगान कम किये अकाल से मरनेवालों की संख्या कम न होगी, कर्नल बेयर्ड स्मिथ ने प्रस्ताव

किया कि बंगाल की भाँति सारे देश में एक पक्का बन्दोबस्त कर दिया जाय। इस प्रस्ताव को बहुत से अधिकारियों ने पसन्द किया, सर विलियम मुइर, सर बार्टल फ्रेयर, सर रिचार्ड टेंपल तथा बंगाल और उत्तर-पश्चिम प्रान्तों के लफ्टेंट गवर्नरों तक ने उसका अनुमोदन किया। आगे चलकर सेक्रेटरी ऑफ स्टेट ने उसका समर्थन किया और पाँच साल बाद एक दूसरे सेक्रेटरी ऑफ स्टेट ने फिर उसका [illegible]न किया परन्तु यह प्रस्ताव इतने समर्थनों के और इतने विलम्ब [illegible] बाद भी कभी कार्यरूप में परिणत न हुआ।

१८६६ ई० में जो अकाल पड़ा, उसमें इतिहास-लेखक पी० ई० रॉबर्ट्स के अनुसार १० से २० लाख तक मनुष्यों ने प्राण गँवाये। यह संख्या भी, जो एक ब्रिटिश राज्य के प्रशंसक इतिहास-लेखक तक पहुँची है, किसी भी मनुष्य के हृदय को हिला देनेवाली है। परन्तु सहृदय शासन-तंत्र में कोई परिवर्तन न हुआ। परिवर्तन के चिन्ह न देखे गये हों, ऐसा कहना भूल होगी परन्तु जनता को इन चिह्नों से ही संतोष करना पड़ा। १८६६ ई० में मंदी का ज़माना आया और ६८-६६ ई० में अकाल पड़ा। जनता के इन कष्टों को उस युग के लेखकों ने अनुभव किया और उन्हें अपने साहित्य में लिखा ही नहीं, उन्हें लिखकर जनता में एक आन्दोलन के लिये वातावरण भी तैयार किया। एक बार ऐसा ही दुर्भिक्ष पड़ने पर 'हिन्दी प्रदीप' में यह होली छपी थी—

> "डफ बाज्यो भरत भिखारी को।
> केसर रंग गुलाल भूलि गयो,
> कोउ पूछत नहिं पिचकारी को।
> बिन धन अन्न लोग सब व्याकुल,
> भई—कठिन बिपत नर नारी को।
> चहुँ दिसि काल पर्‌यो भारत में,
> भय उपज्यो महामारी को।" इत्यादि।

यद्यपि इस होली के अन्त में प्रथानुसार शासक से कुछ प्रार्थना, कुछ उसकी प्रशंसा है, परन्तु ऊपर की पंक्तियों में हमें लोक-साहित्य का एक बहुत सुन्दर उदाहरण मिलता है। उनमें रस, अलंकार दिखाकर उन्हें 'ज्ञातस्वादो विवृतजघनाम्' के बराबर बैठाने की आवश्यकता नहीं है; इतना ही यथेष्ट है कि इन पंक्तियों में यह आग है, जनता के महाकष्ट का यह यथार्थ अनुभव है जो इसके पहले बहुत कम कवियों में आ पाया था। भरल भिखारी के डफ में होली का उल्लास नहीं है; फिर भी होली के उल्लास से महादुर्भिक्ष के संकट की कैसी व्यंग्यपूर्ण तुलना की गई है। उस डफ के शब्द में एक नवीन क्रान्तिकारी चेतना का आह्वान है।

भारतेन्दु बाबू ने स्वयं बहुत सा लोकसाहित्य रचा था और लेख लिखकर बहुतों को इस ओर प्रोत्साहित भी किया था। वैसे तो वे साहित्य के सभी अंगों की ओर सचेत थे, परन्तु जिन शब्दों में उन्होंने ग्राम-साहित्य अथवा लोक-साहित्य की आवश्यकता को व्यक्त किया है, वे हमारे लिये आज भी एक मेनिफैस्टो के रूप में काम आ सकते हैं। मई १८७६ ई० की "कवि-वचन-सुधा" में उन्होंने इस विषय की एक विज्ञप्ति प्रकाशित की थी; विज्ञप्ति लम्बी है, परन्तु उससे भारतेन्दु-युग की मूल प्रवृत्तियों को समझने में सहायता मिलेगी, इसलिये उसका अधिकांश भाग श्रीशिवनन्दनसहाय कृत भारतेन्दु बाबू के जीवन-चरित से यहाँ उद्धृत किया जाता है। गाँवों में ग्रामीण भाषा में ही लिखे गये गीतों द्वारा प्रचार का महत्त्व समझाते हुए, भारतेन्दु बाबू लिखते हैं—"भारतवर्ष की उन्नति के जो अनेक उपाय महात्मागण आजकल सोच रहे हैं उनमें एक और उपाय भी होने की आवश्यकता है। इस विषय के बड़े बड़े लेख और काव्य प्रकाश होते हैं, किन्तु वे जन-साधारण के दृष्टिगोचर नहीं होते। इसके हेतु मैंने यह सोचा है कि जातीय संगीत की छोटी छोटी पुस्तकें बनें और वे सारे देश, गाँव गाँव में साधारण लोगों में प्रचार की जायँ। यह सब लोग जानते हैं कि जो बात साधारण लोगों में फैलेगी उसी का प्रचार सार्व-

देशिक होगा और यह भी विदित है कि जितना शीघ्र ग्रामगीत फैलते हैं और जितना काव्य को संगीत द्वारा सुनकर चित्त पर प्रभाव होता है उतना साधारण शिक्षा से नहीं होता। इससे साधारण लोगों के चित्त पर भी इन बातों का अंकुर जमाने को इस प्रकार से जो संगीत फैलाया जाय तो बहुत कुछ संस्कार बदल जाने की आशा है। इसी हेतु मेरी इच्छा है कि मैं ऐसे ऐसे गीतों का संग्रह करूँ और उनको छोटी छोटी पुस्तकों में मुद्रित करूँ। इस विषय में मैं, जिनको कुछ भी रचना शक्ति है, उनसे सहायता चाहता हूँ कि वे लोग भी इस विषय पर गीत वा छंद बनाकर स्वतन्त्र प्रकाश करें या मेरे पास भेज दें, मैं उनको प्रकाश करूँगा और सब लोग अपनी अपनी मण्डली में गाने वालों को यह पुस्तकें दें।" इन पंक्तियों में भारतेन्दु बाबू का देश-प्रेम छलक रहा है। अनेक देश-भक्तों की भाँति उनका "देश" उच्च वर्गों तक सीमित न था, देश का अर्थ उसका ग्राम समाज था। वह जानते थे कि बिना इस विशाल जन-समुदाय में आन्दोलन किये देश की उन्नति असम्भव है। इस लोक साहित्य के साथ वह संगीत में भी एक क्रान्तिकारी परिवर्तन करना चाहते थे। जो लोग पैसा देकर "पक्का" गाना सुनते थे, उनसे उन्होंने ऐसे ही सीधे गाने सुनने की अपील की थी। "जो लोग धनिक हैं वह नियम करें कि जो गुणी इन गीतों को गावेगा उसी का वे लोग गाना सुनेंगे।" यह प्रस्ताव आज के मध्यवर्ग के लिये भी क्रान्तिकारी है; उस युग में जब पुराने दरबारों का प्रभाव इतना व्यापक था, यह विचार बहुत से कला-प्रेमियों को वज्रपात से कम न लगा होगा। भारतेन्दु बाबू ने स्त्रियों को भी ऐसे ही गीत सिखाने के लिये कहा था वरन् जिस भाषा में स्त्रियाँ गीत गाती हों, उसी में विशेष रूप से गीत लिखने का आग्रह किया था।

ग्राम-साहित्य के प्रचार और प्रसार की ओर ध्यान दिलाते हुए उन्होंने लिखा था—"जिन लोगों का ग्रामीणों से सम्बन्ध है वे गाँव में ऐसी पुस्तकें भेज दें। जहाँ कहीं ऐसे गीत सुनें उसका अभिनन्दन करें। इस हेतु ऐसे गीत बहुत छोटे छोटे छन्दों में और साधारण भाषा

में बनें, वरंच गवाँरी भाषाओं में और स्त्रियों की भाषा में विशेष हों। कजली, ठुमरी, खेमटा, कहरवा, श्रद्धा, चैती, होली, साँझी, लम्बे, लावनी, जाँते के गीत, बिरहा, चनैनी, गजल, इत्यादि ग्रामगीतों में इनका प्रचार हो और सब देश की भाषाओं में इसी अनुसार हो, अर्थात् पंजाब में पंजाबी, बुन्देलखण्ड में बुन्देलखण्डी, बिहार में बिहारी, ऐसे देशों में जिस भाषा का साधारण प्रचार हो उसी भाषा में ये गीत बनें।" भारतेन्दु बाबू का ध्यान किसी एक प्रान्त की ओर नहीं था; हिन्दी से सम्पर्क में आने वाले सभी प्रान्तों में वह इस नवीन आन्दोलन की लहर बहा देना चाहते थे। हिन्दी को राष्ट्र भाषा बनाने के कट्टर पक्षपाती होते हुए भी वह जानते थे कि देश की उन्नति के लिये ग्राम-भाषाओं की उन्नति आवश्यक है और उनमें लोक-हितकारी साहित्य रचा जाना चाहिये। उन्होंने यह भी देखा कि ग्रामीण भाषाएँ ही हिन्दी की रीढ़ हैं और उनके विकास से हिन्दी का विकास हो सकेगा। वह जब हिन्दी का समर्थन करते थे तब उनका ध्यान गाँवों की ओर ही अधिक जाता था; उत्तम वर्गों की संस्कृति की ओर उन्होंने कम ध्यान दिया था।

यद्यपि भारतेन्दु एक विशाल आन्दोलन के केन्द्र थे, फिर भी वह नेता की पोशाक पहनकर लोगों के सामने न आये थे। वह दूसरों को एक सहकारी की भाँति उत्साहित करते थे और अपना काम हुक्म चलाने तक न सीमित रख कर हरएक के कंधे से कंधा मिलाकर छोटे से छोटा काम करने तक का साहस रखते थे। ग्राम साहित्य के सम्बन्ध में भी उन्होंने लिखा था—"उत्साही लोग इसमें जो बनाने की शक्ति रखते हैं वे बनावें, जो छपवाने की शक्ति रखते हैं वे छपवा दें, और जो प्रचार की शक्ति रखते हैं वे प्रचार करें। मुझसे जहाँ तक हो सकेगा मैं भी करूँगा। जो गीत मेरे पास आवेंगे उनका मैं यथाशक्ति प्रचार करूँगा। इससे सब लोगों से निवेदन है कि गीतादिक भेजकर मेरी इस विषय में सहायता करें।" अपने बारे में अति नम्रता से लिख कर उन्होंने दूसरों का मन जान लेने की प्रार्थना की—"और यह विषय प्रचार के योग्य है कि नहीं और इसका प्रचार सुलभ रीति से कैसे हो

सकता है इस विषय में अनुमति प्रकाश करके अनुगृहीत करेंगे।" इसके बाद उन्होंने वे विषय दिये जिन पर यह ग्राम-गीत लिखा जाना आवश्यक समझते थे। बाल-विवाह से हानि, जन्मपत्री मिलाने की अशास्त्रता, बालकों की शिक्षा, अँगरेजी फैशन से शराब की आदत, भ्रूणहत्या, फूट और वैर, बहुजातित्व और बहुभक्तित्व, जन्मभूमि—"इससे स्नेह और इसके सुधारने की आवश्यकता का वर्णन," नशा, अदालत, स्वदेशी—"हिन्दुस्तान की वस्तु हिन्दोस्तानियों को व्यवहार करना—इसकी आवश्यकता, इसके गुण, इसके न होने से हानि का वर्णन" आदि। इस विषय-सूची से ही पता चलेगा कि भारतेन्दु देश के राजनीतिक आन्दोलन की बहुत सी बातें पहले ही सोच चुके थे। समाज सुधार से लेकर स्वदेशी आन्दोलन तक उनकी दृष्टि गई थी। वे देश की जनता में एक नवीन चेतना जगाना चाहते थे जो प्रत्येक क्षेत्र में उसे सजग रखे; अशिक्षित जनता भी गीतों को सुनकर उन्हें कंठस्थ कर ले और इस प्रकार यह नवयुग की वाणी शिक्षित और अशिक्षित कंठों में समान रूप से गूँज उठे। साथ ही जनता की मनोवृत्ति पहचानते हुए वे कोरी शिक्षा के विरोधी थे; वे इस ग्राम-साहित्य को नीरस बना कर जनता का मन न फेर देना चाहते थे। उन्होंने शृङ्गार और हास्य को भी उसमें स्थान दिया था।

भारतेन्दु बाबू चाहते थे कि उच्च कोटि का साहित्य भी ऐसे ही विषयों पर रचा जाय जिसमें वह ग्राम-साहित्य के साथ एक सामञ्जस्य स्थापित कर सके। उन्होंने लिखा था—"यद्यपि यह एक एक विषय एक एक नाटक उपन्यास व काव्य आदि के ग्रन्थ बनाने के योग्य हैं और इन पर अलग ग्रन्थ बनें तो बड़ी ही उत्तम बात है, पर यहाँ तो इन विषयों के छोटे छोटे सरल देशभाषा में गीत और छन्दों की आवश्यकता है जो पृथक् पुस्तकाकार मुद्रित होकर साधारण जनों में फैलाए जायँगे।" अन्त में सब लोगों से सहयोग की प्रार्थना करते हुए उन्होंने इस महत्वपूर्ण विज्ञप्ति को समाप्त किया था। किन दरबारी संस्कारों को तोड़कर यह नव चेतना प्रकट हो रही थी, यह इसी बात

से जाना जा सकता है कि स्वयं भारतेन्दु ने शतरंज में घोड़ों की चाल पर छन्द लिखकर उन्हें "कवि-वचन-सुधा" में छापा था। इसीलिये यह चेतना और भी महान् है; आज तो आये दिन जन-साहित्य की स्कीमें बना करती हैं परन्तु भारतेन्दु की अपील की सिधाई और सचाई कितनी स्कीमों में रहती है ? हिन्दी में जब यह जन-साहित्य की माँग हो रही थी, तब इङ्गलैंड में पुराने प्रतिक्रियावादी साहित्य का दौरदौरा था।

भारतेन्दु-युग के एक ओर मध्यकालीन दरबारी संस्कृति थी तो दूसरी ओर आम जनता में एक सामाजिक और राजनीतिक आन्दोलन के लिये वातावरण तैयार करना था। साहित्य में देश के एक बढ़ते असन्तोष को प्रकट करना भर न था; सदियों से चले आते, समाज की हड्डियों में बसे हुए सामन्ती कुसंस्कारों से भी मोर्चा लेना था। यह दूसरा काम कठिन था। जनता के पुराने संस्कारों को छूना उसके धर्म को चुनौती देना था; एक बार हुसकाई जाकर जनता सभी नये विचारों को सन्देह से देखने लगती। परन्तु भारतेन्दु और उनके साथियों ने इसकी चिन्ता न करके दृढ़ता से अपना युद्ध छेड़ दिया; नास्तिक किरिस्तान कहे जाने पर भी उन्होंने अपना सुधार का मार्ग न छोड़ा। इसके साथ ही उन्हें अपनी भाषा के लिये लड़ना था। वे अपने जन-साहित्य की रचना कचहरियों की भाषा में न कर सकते थे; उसके लिये जनता की भाषा को अपनाना आवश्यक था। कचहरी, सरकार और अन्य विशिष्ट वर्गों के विरोध के होते हुए भी उन्होंने हिन्दी गद्य का एक रूप स्थिर कर दिया। जो लोग सोचते हैं कि हिन्दी तभी मिट जाती तो बड़ा अच्छा होता, उनकी बात दूसरी है, परन्तु जो समझते हैं कि हिन्दी न मिटी तो अच्छा हुआ, उन्हें भारतेन्दु और उस युग के लेखकों का कृतज्ञ होना चाहिये जिन्होंने उसे जीवित रखने के लिये अपने प्राणों की बाजी लगा दी।

राजभक्ति और देशभक्ति

जिस दरबारी वातावरण के बीच राष्ट्र की नवीन चेतना फूट रही थी, उसका उदाहरण स्वयं भारतेन्दु का जीवन है। वह एक मध्य-कालीन दरबारी वातावरण में पले थे; वह स्वयं उसका केन्द्र थे। उनका घर एक दरबार था जिसके वह बादशाह थे। उनके पिता बाबू गोपालचन्द्र के विवाह में कुओं में चीनी के बोरे उड़ेलकर शरबत घोला गया था और बरातियों की पाँति तीन मील लम्बी थी। बाबू गोपालचन्द्र पक्के वैष्णव थे जो बिना पाँच भजन बनाये भोजन नहीं करते थे। भारतेन्दु बाबू ने वैष्णव धर्म की ऐसी व्याख्या की थी जिससे उन्हें नास्तिक की उपाधि मिला। बाबू गोपालचन्द्र सरकार के कृपापात्र और विश्वासपात्र दोनों थे। सन् '५७ के विद्रोह में बनारस की रेजिडेंसी का बहुत सा सामान उनके यहाँ रखा गया था। उनके पुत्र थे हिन्दी में नवीन राष्ट्रीय चेतना लाने वाले भारतेन्दु हरिश्चन्द्र।

भारतेन्दु बाबू के मामा और नाना फारसी के विद्वान थे; गुरु इनके राजा शिवप्रसाद सितारेहिन्द थे। इस प्रकार उनकी बाल्यावस्था का वातावरण प्रधानतः अहिन्दी था। उससे लोहा लेने में उनकी यात्राओं ने उन्हें प्रोत्साहित किया। ११ वर्ष की ही अवस्था में उन्होंने चुनार, कानपुर, लखनऊ, सहारनपुर, मंसूरी, हरिद्वार, लाहौर, अमृतसर, दिल्ली, आगरा आदि होते हुए उत्तर भारत की यात्रा की। बैसवाड़ा, बस्ती, मिथिला आदि उन्होंने घूमा। भारतेन्दु ने बैसवाड़े के पुरुषों की भीम और अर्जुन से तुलना की तो स्वर्गीय पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी को उसमें व्यंग्य की झलक दिखाई दी और उन्होंने अपनी पुस्तक (शिवनन्दनसहाय कृत भारतेन्दु की जीवनी) में उन उद्धरणों की बगल में पेंसिल से बड़े जोरदार क्रॉस बना दिये हैं।

भारतेन्दु बाबू ने सभी प्रकार से देश की यात्रा की थी; कभी रेल के सेकिण्ड क्लास डिब्बे में बैठकर कभी बैलगाड़ी में धक्के खाकर। बैलगाड़ी की यात्रा में पैर झुनझुनाने से लेकर भूखे रहने तक का अनुभव उन्हें हुआ था। निःसंदेह आज भी बड़े बड़े नेताओं के बैलगाड़ियों में जलूस निकलते हैं परन्तु भारतेन्दु की सी दशा क्या उनकी भी होती है?

"हिलत डुलत चलत गाड़ी आवै।
झुलत सिर टुटत रीढ़ कमर झोंका खावै॥"

भारतेन्दु ने गाड़ी और गाड़ीवान की प्रशंसा करते हुए अपनी यात्रा पर यह पद बनाया था। भारतवर्ष की जो दशा उन्होंने गाँवों में देखी, उससे उन्होंने बैलगाड़ी की चाल को ही देश की उन्नति का प्रतीक बताया। इन यात्राओं में भारतेन्दु को देश-दशा का ज्ञान हुआ, जनता को निकट से देखने का अवसर मिला और वह अपनी और अपने युग की भाषा के विकास के बारे में एक मत निर्धारित कर सके। ग्रामीण बोलियों से उन्हें अतिशय प्रेम था, यहाँ तक कि उनके नाटकों में उनका कहीं कहीं आवश्यकता से अधिक प्रयोग हो गया है। भाषा के साथ साहित्यिक संस्कृति पर गाँवों का जो प्रभाव पड़ रहा था, वह भारतेन्दु

राजभक्ति और देशभक्ति

जिस दरबारी वातावरण के बीच राष्ट्र की नवीन चेतना फूट रही थी, उसका उदाहरण स्वयं भारतेन्दु का जीवन है। वह एक मध्य-कालीन दरबारी वातावरण में पले थे; वह स्वयं उसका केन्द्र थे। उनका घर एक दरबार था जिसके वह बादशाह थे। उनके पिता बाबू गोपालचन्द्र के विवाह में कुओं में चीनी के बोरे उड़ेलकर शरबत घोला गया था और बरातियों की पाँति तीन मील लम्बी थी। बाबू गोपालचन्द्र पक्के वैष्णव थे जो बिना पाँच भजन बनाये भोजन नहीं करते थे। भारतेन्दु बाबू ने वैष्णव धर्म की ऐसी व्याख्या की थी जिससे उन्हें नास्तिक की उपाधि मिला। बाबू गोपालचन्द्र सरकार के कृपापात्र और विश्वासपात्र दोनों थे। सन् ५७ के विद्रोह में बनारस की रेजिडेंसी का बहुत सा सामान उनके यहाँ रखा गया था। उनके पुत्र थे हिन्दी में नवीन राष्ट्रीय चेतना लाने वाले भारतेन्दु हरिश्चन्द्र।

भारतेन्दु बाबू के मामा और नाना फारसी के विद्वान थे; गुरु इनके राजा शिवप्रसाद सितारेहिन्द थे। इस प्रकार उनकी बाल्यावस्था का वातावरण प्रधानतः अहिन्दी था। उससे लोहा लेने में उनकी यात्राओं ने उन्हें प्रोत्साहित किया। ११ वर्ष की ही अवस्था में उन्होंने चुनार, कानपुर, लखनऊ, सहारनपुर, मंसूरी, हरिद्वार, लाहौर, अमृतसर, दिल्ली, आगरा आदि होते हुए उत्तर भारत की यात्रा की। बैसवाड़ा, बस्ती, मिथिला आदि उन्होंने घूमा। भारतेन्दु ने बैसवाड़े के पुरुषों की भीम और अर्जुन से तुलना की तो स्वर्गीय पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी को उसमें व्यंग्य की झलक दिखाई दी और उन्होंने अपनी पुस्तक (शिवनन्दनसहाय कृत भारतेन्दु की जीवनी) में उन उद्धरणों की बगल में पेंसिल से बड़े ज़ोरदार क्रॉस बना दिये हैं।

भारतेन्दु बाबू ने सभी प्रकार से देश की यात्रा की थी; कभी रेल के सेकिण्ड क्लास डिब्बे में बैठकर कभी बैलगाड़ी में धचके खाकर। बैलगाड़ी की यात्रा में पैर झुनझुनाने से लेकर भूखे रहने तक का अनुभव उन्हें हुआ था। निःसंदेह आज भी बड़े बड़े नेताओं के बैल-गाड़ियों में जलूस निकलते हैं परन्तु भारतेन्दु की सी दशा क्या उनकी भी होती है ?

"हिलत डुलत चलत गाड़ी आवै।
झुलत सिर टुटत रीढ़ कमर झोंका खावै॥"

भारतेन्दु ने गाड़ी और गाड़ीवान की प्रशंसा करते हुए अपनी यात्रा पर यह पद बनाया था। भारतवर्ष की जो दशा उन्होंने गाँवों में देखी, उससे उन्होंने बैलगाड़ी की चाल को ही देश की उन्नति का प्रतीक बताया। इन यात्राओं में भारतेन्दु को देश-दशा का ज्ञान हुआ, जनता को निकट से देखने का अवसर मिला और वह अपनी और अपने युग की भाषा के विकास के बारे में एक मत निर्धारित कर सके। ग्रामीण बोलियों से उन्हें अतिशय प्रेम था, यहाँ तक कि उनके नाटकों में उनका कहीं कहीं आवश्यकता से अधिक प्रयोग हो गया है। भाषा के साथ साहित्यिक संस्कृति पर गाँवों का जो प्रभाव पड़ रहा था, वह भारतेन्दु

की रचनाओं में और उनके सारे युग में झलकता हुआ दिखाई देता है। गाँवों के प्रति पढ़े लिखे लोगों की उपेक्षा पर टिप्पणी करते हुए "हिन्दी प्रदीप" ने लिखा था—"ये वे ही खेतिहर हैं जो हमको जिलाते हैं पर गँवार और दिहकानी कह मध्य समाज वाले जिनसे घिनाते हैं और अपने से अत्यन्त निकृष्ट जिन्हें मानते हैं। बड़ा बड़ा क्लेश उठाय ये बेचारे यदि अन्न न पैदा करें तो इनकी सभ्यता की हिमाकत सब धरी रह जाय।"

दुर्भिक्ष ने लोगों की आँखें खोल दी थीं; सभ्यता का सच्चा रूप उन पर प्रकट हो गया था। परिस्थितियाँ लेखकों को बरबस उनके जीवन-स्रोत गाँवों की ओर खींच लाई थीं। भारतेन्दु के विचार किस प्रकार कार्यरूप में परिणत किये जा रहे थे, इसका उदाहरण यह आल्हा है जो अकाल पर "हिन्दी प्रदीप" में छपा था।

> "संवत उन्नइस सौ तिरपन मां, पड़ा हिन्द में महा अकाल।
> घर घर फाके होने लागे, दर दर प्रानी फिरैं बेहाल॥
> गेहूँ चावल सावाँ मकरा, सबै अन्न धन गाव विकाय।
> बिन पैसा सब छाती पीटैं, अन्न तो हाय रहा नहिं आय॥
> कोई पात पेड़न के चाबै, कोई मारी कोई घास चबाय।
> कोई बेटवा बिटिया बेचैं, अब तो भूख सही नहिं जाय॥
> कोई घर घर भीखो माँगै, कोई लूट पाट के खाँय।
> बहुत लाग जो अन्न देत हैं, राम निहोरे करें सहाय॥
> बहुत लोग देते हैं फाँसी, अरु मलिका से चहैं खिताब।
> सी० एस० आई०, के० एस० आई०, रायबहादुर केर खिताब॥"

जनता का यह रोष और व्यंग्य भूषण की कविता में जहाँ-तहाँ छोड़कर हिन्दी साहित्य में पहले पहल इस तरह प्रकट हुआ था। गाँवों की दुर्दशा का इसे क्या "सजीव" वर्णन कहना चाहिये? जिसने पेड़ों के पत्ते और घास चबाते लोगों को नहीं देखा-सुना है, उसे इस वर्णन की सचाई पर सन्देह भी हो सकता है। परन्तु एक ओर पत्ते चबाना, लड़के-लड़कियों बेचना, दूसरी ओर लोगों का रायबहादुरी के खिताब

पाना—यही तो वह संस्कृति थी जो सन् '५७ के बाद उच्च वर्गों में बन रही थी और जिसका युग की चेतना विरोध कर रही थी।

दरबारी संस्कृति के साथ राजभक्ति का घनिष्ठ सम्बन्ध था। वास्तव में जितनी राजभक्ति दरबारी नरेशों में थी, उतनी साधारण प्रजा में न थी। विद्रोह में उन्होंने स्वर्णाक्षरों में लिखा जाने वाला काम किया था; केनिंग के अनुसार बिना उनकी सहायता के विद्रोह की प्रलय में ब्रिटिश साम्राज्य बह जाता।

भारतेन्दु दरबारी संस्कृति में पाले पोसे जाने के साथ राजभक्ति में भी दीक्षित किये गये थे। उनके दरबार में समस्यापूर्ति होती थी—"पूरी अमी की कटोरिया सी चिर जीवो सदा विक्टोरिया रानी!" रीतिकाल, दरबारी संस्कृति, राजभक्ति—उस समय की सभी प्रतिक्रियात्मक धाराओं का संकेत इस एक पंक्ति में मिलता है। राजभक्ति से ओतप्रोत कविताएँ उस युग में अनेक रची गईं परन्तु उनमें भी राजभक्ति के साथ देश-दशा की झलक दिखाई देती है। वह राजभक्ति रायबहादुरों वाली न थी कि सब देश सुखी है और ब्रिटिश राज में भारतवर्ष बस नरक से स्वर्ग हो गया है। प्रिन्स ऑफ वेल्स के स्वागतपत्र में भारतेन्दु पुलिस और अदालत को नहीं भूले—

"पहरू नहिं, कोउ लखि परै, होय अदालत बंद।
ऐसो निरुपद्रव करो, राजकुँअर सुखकंद!!"

इस प्रकार की राजभक्ति वाली कविताओं का सबसे सुन्दर उदाहरण प्रतापनारायण मिश्र की कविता "प्रैडला स्वागत" है। भारतेन्दु की राजभक्ति को लोग सन्देह की दृष्टि से देखने लगे थे। ड्यूक ऑफ अल्बनी की मृत्यु पर जब उन्होंने बनारस के टाउन हॉल में शोक सभा करनी चाही तो पहले मजिस्ट्रेट ने आज्ञा दे दी परन्तु पीछे से मना कर दिया। कुछ लोगों के कहने सुनने से फिर सभा के लिये हॉल मिल गया परन्तु सभा में जनता ने राजा शिवप्रसाद को बोलने न दिया। इससे भारतेन्दु और शिवप्रसाद की राजभक्ति का अन्तर समझ में आ सकता है। राजा शिवप्रसाद ने काशी के राजा को अपने अपमान के बारे

सूचित किया तो उन्होंने भारतेन्दु से जवाब तलब किया। भारतेन्दु ने टाउन हॉल न मिलने पर अपने अपमान की बात का उल्लेख करते हुए कहा कि अब यह काशिराज के दरबार में भी न आयेंगे। इस उदाहरण में काशिराज का दरबार, राजा शिवप्रसाद सितारे हिंद और राजभक्ति एक दूसरे से सम्बन्धित दिखाई देते हैं। भारतेन्दु इन सबसे दूर थे। वास्तव में अनेक रचनाओं में जो लिखा लगता है कि जनता में नव चेतना फैलाने के लिये ही राजभक्ति की आड़ ली गई थी। भारतेन्दु अँग्रेजों की नीति समझते थे और उस पर सीधी भाषा में टीका कर सकते थे, यह उनके लेखों से मालूम हो जाता है। एक पहेली में उन्होंने लिखा था —

"भीतर भीतर सब रस चूसै, बाहर से तन मन धन मूसै।
जाहिर बातन में अति तेज, क्यों सखि साजन? नहिं अँगरेज।"

यह पहेली उस ग्राम या लोक-साहित्य का अच्छा उदाहरण है जिसका भारतेन्दु प्रचार करना चाहते थे; उन्होंने एक राजनीतिक तथ्य को सरल और सरल शब्दों में जनता तक पहुँचाने का प्रयत्न किया था। उनकी राजभक्ति का निराकरण रूप लिया हो था। सरकारी कर्मचारियों को संदेह हुआ हो तो आश्चर्य नहीं। सरकार "हरिश्चन्द्र-चन्द्रिका", "कवि-वचन-सुधा" और "बालाबोधिनी" की सौ-सौ प्रतियाँ लेती थी; एक दिन यह प्रतियाँ लेना बन्द कर दिया गया।

दुर्भिक्ष और महामारी ने जैसे सरकारी व्यवस्था और शासन पर प्रकाश डाला था, वैसे ही कुछ लड़ाइयों ने सरकार की विदेशी नीति और उसके साम्राज्यवादी तानेबाने को भी सुलझाकर रख दिया। ब्रिटिश राजदूत का अपमान करने के कारण भूटान की लड़ाई हुई और सरकार ने अपमान के बदले भूटान से वह भूमि ले ली जहाँ बहुत से चाय के बाग लगाये जा सकें। बर्मा का बहुत सा भाग सरकार के अधिकार में आ गया था, पहिले अराकान और तेनैसरिम, फिर पेगू; परन्तु समुद्री किनारे वाले भाग छिन जाने पर भी बर्मा एक स्वतन्त्र राज्य रह गया था। अपने देश का इतना भाग छिन जाने पर भी बर्मा-निवासी

अँगरेज़ों का अपने यहाँ व्यापार की सुविधाएँ देने के लिए तैयार न थे।

इस मूर्खता का उन्हें दण्ड देना आवश्यक हो गया। पहिले ब्रिटिश राजदूत का अपमान हुआ और वह वहाँ से बुला लिया गया। वर्मा के राजा ने फ्रान्स, जर्मनी और इटली से व्यापार के सम्बन्ध में कुछ बातचीत करना आरम्भ किया। अब सरकार ने फिर अपना आदमी भेजना जरूरी समझा और इसके लिए वर्मा के राजा पर दवाव डाला। अन्य देशों से व्यापार-सम्बन्धी बातचीत बन्द कर देने के लिए भी कहा। यहाँ के राजा ने ऐसी शर्तों को बिना कुछ हेर फेर के स्वीकार करना असम्भव बताया। रंगून में फौजें तैयार थीं हीं, धावा बोल दिया गया। दस दिन में ही लड़ाई समाप्त हो गई क्योंकि राजा लड़ने के लिये बिल्कुल तैयार न था। राजधानी के पास पहुँचते ही उसने आत्म-समर्पण कर दिया। फ्रान्स देश से बड़ा यह राज्य सरकार के हाथ में आ गया। इतिहास के लेखकों ने वर्मा के राजा को अत्याचारी और वहाँ के निवासियों को असभ्य सिद्ध करके व्यापारियों के स्वार्थ को सभ्यता और संस्कृति का रूप दिया है। परन्तु वर्मा के असभ्य स्वाधीनचेता निवासियों ने राजा के आत्मसमर्पण कर देने पर भी दो वर्ष तक लड़ाई जारी रखी और सरकार की विजय में इतनी असुविधाएँ पैदा कर दीं कि विलायत में भी सरकारी नीति की कड़ी आलोचना होने लगी। सरकार को वर्मा में छोटे छोटे तमाम किले बनवाने पड़े; इन्हीं में से निकल कर सरकारी दस्ते विद्रोहियों पर हमला करते थे। वर्मा के राजा की असभ्यता और अत्याचार की कहानी के साथ उस समय के बड़े लाट डफरिन की इस बात का भी मिलान कर लेना चाहिए। उन्होंने लिखा था—"If the French proceedings should eventuate in any serious attempt to forestall us in Upper Burma, I should not hesitate to annex the country" यानी उत्तरी वर्मा में फ्रान्स वाले हमसे पहले ही वाजी मार ले जाने की कोशिश करेंगे तो मैं वर्मा को हथिया लेने में संकोच न करूँगा। इससे प्रकट है कि सरकार अपने फ्रान्सीसी भाईबन्दों की सभ्यता

से जितना परेशान थी, उतना बर्मा निवासियों की असभ्यता से
भारतवासियों से यह सभ्यता असभ्यता का रहस्य छिपा न
बर्मा में ब्रिटिश साम्राज्य-विस्तार के बारे में प्रेमघन ने लिखा था—

"अँगरेजन के हित चित चाय। ब्रह्मा में बाजे अरराय ॥
बेचारे थीबा घरि धाय। कैद किये भारत में लाय ॥
करें हाकिमी गोरा जाय। खर्चा भारत सीस चिमाय ॥"

इसी प्रकार अफ़गानिस्तान के सम्बन्ध में ब्रिटिश राजदूत से
आरम्भ हुआ और लड़ाई में समाप्त हुआ। अफ़गान सरकार ने
वहाँ ब्रिटिश राजदूत रखना स्वीकार भी कर लिया परन्तु उसने
पहले कार्यों के लिये क्षमा-याचना न की, इसलिए अफ़गान सरकार
उत्तर अपूर्ण समझा गया। वास्तव में लड़ाई उत्तर मिलने के पहले
छेड़ दी गई। विलायत में इस लड़ाई की कड़ी आलोचना हुई।
स्वाधीनताप्रेमी ब्रिटिश व्यापारियों ने अफ़गानिस्तान में अपनी स्वा
करना ही ठीक समझा। रूस के हमले का बराबर डर दिखाया
परन्तु लड़ाई छिड़ने पर रूसी भालू कहीं पास भी न फटका।
राजा भाग गया और ब्रिटिश सरकार ने वहाँ एक दूसरा राजा
उससे सन्धि कर ली। परन्तु असभ्य जनता वहाँ भी ब्रिटिश
गुण मानने से इन्कार करती रही और खुल्लमखुल्ला विद्रोह कर
अफ़गान विद्रोहियों को हराने में सरकारी फौजों को लोहे के चने
पड़े। तलवार के ज़ोर पर व्यापार फैलाने और काले आदमियों को
बनाने की नीति लोगों की समझ में आ रही थी। "सारसुधानिधि"
"भारत मित्र" पत्रों में इन साम्राज्यवादी युद्धों पर बड़े सुन्दर
निकले। "सारसुधानिधि" का लेख "उन्नीसवीं शताब्दी
सभ्यता !!!" उस समय की राजनीतिक चेतना का प्रमाण है।
लेखकों ने देश के जागरण में कौन सा भाग लिया, यह जानने
ऐसे लेखों को पढ़ना आवश्यक है। लोगों को कहते हुए हम सुन
हैं कि गांधी बाबा के पहिले तो लोग स्वराज का नाम लेते
थे, सरकार के विरुद्ध एक शब्द कहने का भी साहस न होता था

लोगों को या तो साहित्य की जानकारी नहीं है या जान बूझ कर वे झूठा प्रचार करते हैं।

"सारसुधानिधि" के लेख में बात बहुत साफ़ कही गई है। और जो बात कही गई है, वह आज की राजनीतिक चेतना के अनुसार कितनी ठीक उतरती है, यह भी देखने योग्य है। उस लेख में पुराने असभ्यों का उल्लेख करते हुए आधुनिक सभ्यों के "पशुधर्म" का विवेचन किया गया है। दक्षिण अफ्रीका के जुलू-युद्ध में महात्मा गांधी ब्रिटिश सरकार के साथ थे, यद्यपि उन्होंने स्वीकार किया था कि न्याय सरकार के साथ नहीं था। गांधीजी की तब की राजनीतिक चेतना से इस लेख का लेखक कोसों आगे है। उसने स्पष्ट लिखा है कि अँग्रेज जुलुओं से सेण्ट लुइसा का उपसागर चाहते थे, इसीलिए उन्होंने युद्ध छेड़ा है। अँगरेजों की स्वार्थ-लिप्सा की निन्दा करते हुए उसने लिखा था—"ये महासमर बस अँगरेजों के निज उद्योग से ही हुआ है। इसी को कहते हैं "बैठे बैठे चुल्ल"। देखिए, अँगरेज ग्यासे सुख में बैठे हुए हैं, इनको किसी प्रकार का और किसी विषय का अभाव नहीं है, इनका धन माल राज्य इतना है कि उसका अन्त नहीं है, पर तो भी एक जंगली की कुटी के लिये महासंग्राम का क्या प्रयोजन है? जुलू लोग बराबर से अँगरेजों के अनुगत थे।' पर इन लोगों का लोभ ऐसा ही प्रबल हो गया है। और प्राधान्य का गर्व हो जाने के कारण, औरों की स्वाधीनता और औरों का प्राधान्य इनका चक्षुशूल हो गया है।" उस समय के प्रसिद्ध राजनीतिज्ञों ने सरकारी नीति की कभी ऐसी कड़ी आलोचना न की थी। वरन वे सरकार का साथ देते थे; राजभक्ति से देश को स्वाधीन करना चाहते थे या ब्रिटिश राज में रह कर सुख की साँस ले स्वाधीनता को भूल जाना चाहते थे।' सरकार, कचहरी और प्रेस ऐक्ट के मुकाबिले में डटकर इन स्वार्थत्यागी लेखकों ने—जिनका इतिहास में नाम भी स्पष्ट नहीं लिखा है—देश में राजनीतिक चेतना फैलाई थी।

जुलू युद्ध और अफ़गान लड़ाई की तुलना करते हुए उसी लेखक ने

से जितना परेशान थी, उतना वर्मा निवासियों की असभ्यता से नहीं।

भारतवासियों से यह सभ्यता असभ्यता का रहस्य छिपा न रहा। वर्मा में ब्रिटिश साम्राज्य-विस्तार के बारे में प्रेमघन ने लिखा था—

"अंगरेजन के हित चित चाय। ब्रह्मा में बाजे अरराय॥
बेचारे थीबा धरि धाय। फेंद किये भारत में लाय॥
करैं हाकिमी गोरा जाय। रचौ भारत सीस बिलाय॥

इसी प्रकार अफ़गानिस्तान के सम्बन्ध में ब्रिटिश राजदूत से नाटक आरम्भ हुआ और लड़ाई में समाप्त हुआ। अफ़ग़ान सरकार ने अपने यहाँ ब्रिटिश राजदूत रखना स्वीकार भी कर लिया परन्तु उसने अपने पहले कार्यों के लिये क्षमा-याचना न की, इसलिए अफ़ग़ान सरकार का उत्तर अपूर्ण समझा गया। वास्तव में लड़ाई उत्तर मिलने के पहले ही छेड़ दी गई। विलायत में इस लड़ाई की कड़ी आलोचना हुई परन्तु स्वाधीनताप्रेमी ब्रिटिश व्यापारियों ने अफ़गानिस्तान में अपनी स्वार्थरक्षा करना ही ठीक समझा। रूस के हमले का बराबर डर दिखाया गया था परन्तु लड़ाई छिड़ने पर रूसी भालू वहाँ पास भी न फटका। अफ़ग़ान राजा भाग गया और ब्रिटिश सरकार ने वहाँ एक दूसरा राजा बनाकर उससे सन्धि कर ली। परन्तु असभ्य जनता वहाँ भी ब्रिटिश राज के गुण मानने से इन्कार करती रही और खुल्लमखुल्ला विद्रोह कर बैठी। अफ़ग़ान विद्रोहियों को हराने में सरकारी फौजों को लोहे के चने चबाने पड़े। तलवार के ज़ोर पर व्यापार फैलाने और काले आदमियों को सभ्य बनाने की नीति लोगों की समझ में आ रही थी। "सारसुधानिधि" और "भारत मित्र" पत्रों में इन साम्राज्यवादी युद्धों पर बड़े सुन्दर लेख निकले। "सारसुधानिधि" का लेख "उन्नीसवीं शताब्दी और ये सभ्यता !!!" उस समय की राजनीतिक चेतना का प्रमाण है। हिन्दी के लेखकों ने देश के जागरण में कौन सा भाग लिया, यह जानने के लिये ऐसे लेखों को पढ़ना आवश्यक है। लोगों को कहते हुए हम सुना करते हैं कि गांधी यात्रा के पहिले तो लोग स्वराज का नाम लेते भी डरते थे, सरकार के विरुद्ध एक शब्द कहने का भी साहस न होता था; ऐसे

लोगों को या तो साहित्य की जानकारी नहीं है या जान बूझ कर वे झूठा प्रचार करते हैं।

"सारसुधानिधि" के लेख में बात बहुत साफ़ कही गई है। और जो बात कही गई है, वह आज की राजनीतिक चेतना के अनुसार कितनी ठीक उतरती है, यह भी देखने योग्य है। उस लेख में पुराने असभ्यों का उल्लेख करते हुए आधुनिक सभ्यों के "पशुधर्म" का विवेचन किया गया है। दक्षिण अफ्रीका के जुलू-युद्ध में महात्मा गांधी ब्रिटिश सरकार के साथ थे, यद्यपि उन्होंने स्वीकार किया था कि न्याय सरकार के साथ नहीं था। गांधीजी की तब की राजनीतिक चेतना से इस लेख का लेखक कोसों आगे है। उसने स्पष्ट लिखा है कि अँग्रेज जुलुओं से सेण्ट लुइसा का उपसागर चाहते थे, इसीलिए उन्होंने युद्ध छेड़ा है। अँगरेजों की स्वार्थ-लिप्सा की निन्दा करते हुए उसने लिखा था—"ये महासमर यज्ञ अँगरेजों के निज उद्योग से ही हुआ है। इसी को कहते हैं "बैठे बैठे चुल्ल"। देखिए, अँगरेज खासे सुख में बैठे हुए हैं, इनको किसी प्रकार का और किसी विषय का अभाव नहीं है, इनका धन माल राज्य इतना है कि उसका अन्त नहीं है, पर तो भी एक जंगली की कुटी के लिये महासंग्राम का क्या प्रयोजन है? जुलू लोग बराबर से अँगरेजों के अनुगत थे। पर इन लोगों का लोभ ऐसा ही प्रबल हो गया है। और प्राधान्य का गर्व हो जाने के कारण औरों की स्वाधीनता और औरों का प्राधान्य इनका चक्षुशूल हो गया है।" उस समय के प्रसिद्ध राजनीतिज्ञों ने सरकारी नीति की कभी ऐसी कड़ी आलोचना न की थी। वरन वे सरकार का साथ देते थे; राजभक्ति से देश को स्वाधीन करना चाहते थे या ब्रिटिश राज में रह कर सुख की साँस ले स्वाधीनता को भूल जाना चाहते थे। सरकार, कचहरी और प्रेस ऐक्ट के मुकाबिले में डटकर इन स्वार्थत्यागी लेखकों ने—जिनका इतिहास में नाम भी स्पष्ट नहीं लिखा है—देश में राजनीतिक चेतना फैलाई थी।

जुलू-युद्ध और अफ़ग़ान लड़ाई की तुलना करते हुए उसी लेखक ने

लिखा था—"इस नेश्या में काबुल के अमीर फकीर हुए। जुलु लोगों का भी अपराध यही है कि वे स्वाधीन हैं। .... ये तो हम फिर भी कहेंगे कि जुलु इस युद्ध में प्रथम अपराधी नहीं हैं....ये युद्ध और काबुल का युद्ध ये दोनों ही इन्हीं लोगों की छेड़छाड़ से हुए।" जुलुओं की तुलना लेखक ने आग की चिनगारियों से की है और ब्रिटिश सेना को राख का ढेर कहा है। जैसे आग पर उससे चौगुनी राख डाल दी जाय तो वह बुझ जायगी, वैसे ही ब्रिटिश फौजों ने अपनी बहादुरी से जुलुओं पर विजय पाई। यह राजनीति धर्मनीति है या पाप-नीति, इस पर उसने लिखा था—"इस महानरमेध का कारण निःसन्देह एक मात्र राजलोभ ही है। इस नरहत्या का क्या पाप नहीं है? यदि पाप है तो किसको पाप होगा?" यद्यपि इतिहास में पहले भी युद्ध हुए हैं परन्तु "आश्चर्य तो ये है कि अब के राजा सभ्यता का गर्व करते हैं!! इसी से क्या निरपराधि मनुष्य-हत्या सभ्यता का पर्य्याय है?" लेख के अन्त में एक रूसी समाचार पत्र में प्रति मनुष्य को मारने के लिये जितना खर्च होता है, उसके आँकड़े दिये गये हैं। अन्त में लिखा है—"तिस पर भी युद्ध! युद्ध! युद्ध! करके हमारे सभ्य राजा व्यस्त हो रहे हैं। इधर काबुल उधर जुलु, यही क्या सभ्यता का स्वरूप है?"

"सारसुधानिधि" के इस लेख में मूलतः साफ विचारों को ऐसी मनोरंजक शैली में प्रकट किया गया है कि वे साधारण पाठकों पर भी अपना प्रभाव डालते हैं। राज्य की ओर से लगाई पाबन्दियों को देखते हुए इस लेख के लिये जो भी उत्तरदायी थे, उनके साहस की प्रशंसा करनी पड़ती है। लेख में एक रचना-कौशल है जो बिना पूरा लेख पढ़े समझ में नहीं आ सकता। पाठक के साथ आत्मीयता से बातचीत करने का यह ढंग आजकल के लेखों में कम मिलता है। उस समय को देखते जब नेता लोग ब्रिटिश स्वार्थ में सहायक होकर अपना थोड़ा बहुत हित साधना उचित समझते थे, यह लेख क्रान्तिकारी ठहराता है। अपने ढंग का यह लेख अकेला नहीं है; काबुल की लड़ाई पर तो पत्रों में धारावाहिक रूप से लेख निकलते रहे थे।

विदेशी नीति और लड़ाई से सम्बन्ध रखने वाले साहित्य में गदाधर सिंह की पुस्तक "चीन में तेरह मास" का विशेष स्थान है। गदाधरसिंह ने इसे चीन की रणभूमि में ही लिखा था जब यहाँ से सातवीं राजपूत पल्टन बक्सर विद्रोह का दमन करने भेजी गई थी। यह एक सीधे सादे सिपाही की लिखी पुस्तक है जिसे हिन्दू धर्म और अँग्रेज सरकार की नीति में पूर्ण विश्वास है। इसीलिये उसके वर्णन की सचाई और साहस की प्रशंसा करनी पड़ती है। चीन में विद्रोह दमन करने के बहाने डट कर लूट हुई और लेखक के अनुसार "लूट न आवे लै लै भागैं" की मसल भी चरितार्थ की गई। तिनचिन में जब अँग्रेजी फौज पहुँची, तो वहाँ अन्य देशों की फौजें पहले ही लूटपाट कर चुकी थीं। परन्तु इससे सरकारी फौजें हताश न हुईं। गदाधरसिंह ने लिखा है—शहर के सभी लोग भाग गये थे—उजाड़ हो रहा था। बचेखुचे अपाहिज लोग जो रह गये थे उनका यत्किंचित् असबाब बन्दूक के सहारे छीन लाना सिपाहियों का अच्छा गौरव (?) प्रकट करता था! सिपाहियों की पार्टियाँ जाकर अपनी आवश्यकीय चीजें सन्दूक, बक्स, मेज, कुरसी, कपड़े, पोस्तीन, खच्चर, टट्टू, रिक्शा गाड़ी आदि सभी कुछ लूट लाते थे। घड़ी, छड़ी, छाता, पंखा सभी कुछ लूटकर आता था—कहीं कहीं चीनों को धमकाकर और कहीं यमपुरी को भेजकर! किसी चीज की माँग होने पर तनिक भी विलम्ब होने से असहाय चीनी को सशरीर अर्पण होना पड़ता था। अवश्य ही चीज का चाहने वाला केवल चीज ही लेता था—और लोथ को दयापूर्वक कुकुरों के भोजनार्थ दान कर देता था। कहा भी तो है—

"दान में दया देय,
तीन लोक जीत लेय।"

यह दया और वीरता जनता पर खूब प्रकट हो रही थी और लेखक निर्भीक होकर उस पर प्रकाश डाल रहे थे। शैली में अपने आप सुन्दर व्यंग्य उत्पन्न हो जाता था; प्रवाह तो उस युग की देन थी। गदाधरसिंह ने "लेखक" बनकर इस पुस्तक को नहीं लिखा था परन्तु

उस युग के गुण उनकी रचना में सर्वत्र पाये जाते हैं।

चीन में चारों ओर हत्याकाण्ड के दृश्य ही दिखाई देते थे। युद्ध में मनुष्यता का जैसे नाश हो गया था; अधम बर्बरता ने उसका स्थान ले लिया था। एक चीन को विदेशियों ने फुटबॉल सा खेलकर मार डाला.—"यह सभी खिलाड़ी सभ्य जातियों के थे !!!" पेकिन की ओर नाव से जाते हुए सिपाहियों को यदि कोई चीनी नदी के किनारे देख पड़ता तो वे उस पर निशाना लगाने लगते। "हमको शोक से देखना पड़ा कि अभागे चीनी लोग खटमलों की तरह कुचले जाते हैं।" विदेशी सिपाही चीनी पुरुषों और बच्चों को मार डालते थे और स्त्रियों के साथ बलात्कार करते थे। विदा होते समय गाँव में आग लगा देते थे। गाँवों के कुएँ अनगिनित स्त्रियों की लोथों से भरे हुए थे। गदाधरसिंह ने देखा कि सिपाहियों के आते ही एक स्त्री खेत में अपना बालक छोड़ नदी में कूद पड़ी।

यह पुस्तक ३१६ पृष्ठों में समाप्त हुई है। इतिहास की दृष्टि से भी यह महत्वपूर्ण है। इसमें लेखक ने साम्राज्यवाद का नंगा चित्र खींच दिया है अथवा यथार्थ वर्णन से वह अपने आप खिंच गया है। ये सब तिलमिला देने वाली बातें साहित्य में आईं और लेखकों के ऊपर उनका प्रभाव पड़ा।

इस प्रकार का राजनीतिक साहित्य वर्षों तक आगे पीछे रचा जाता रहा और युग-चेतना को उसने मद्धिम न होने दिया। भारतेन्दु से लेकर, जिनका उद्देश्य ही जन-साहित्य रचना था, गदाधरसिंह तक जो अपने ठोस अनुभव के कारण लेखकों की श्रेणी में आ मिले—सभी ने उस युग को सँवारा है। कुछ ने जानबूझकर, कुछ ने बिना जाने सरकार की नीति और देश-विदेश में फैले हुए साम्राज्यवाद की पशुता को लोगों पर प्रकट कर दिया। दरबारी सँस्कृति को इन सब बातों से भारी धक्का लगा और साहित्य ने जनता के मन को उधर से हटाकर नये आन्दोलनों की ओर लगाया।

पत्र और पत्रकार

युग की प्रतिभा जनता के निकट अनेक रूपों में प्रकट हुई। नाटक, सभा संस्थाओं में भाषण, पत्र-पत्रिकाओं में लेख आदि के द्वारा लेखक जनता तक अपना संदेश पहुँचा सके। इन सब में पत्र-पत्रिकायें ही अधिक स्थायी और दूर दूर तक पहुँचानेवाला साधन थीं। हिन्दी में पत्र-पत्रिकाओं की कोई जीवित परम्परा न थी, परन्तु एकाएक उत्तर भारत में न जाने कितने नगरों से पत्रों की एक बाढ़ सी आ गई। इसमें बहुत से कुछ महीने या कुछ वर्ष चलकर ठप हो गये; कुछ दीर्घकाल तक हिन्दी की सेवा करते रहे। लाहौर, बम्बई और कलकत्ते को यदि तीन सीधी रेखाओं से मिला दिया जाय तो जो त्रिकोण बनेगा, उसके भीतर देश का वह भाग आ जायगा जहाँ से इस प्रकार के पत्र निकले थे। बम्बई की अपेक्षा कलकत्ते से बहुत से और बहुत अच्छे पत्र निकले। बनारस तो पत्रिकाओं का केन्द्र था। प्रयाग से "हिन्दी प्रदीप" निकलता था जिसने अपने दीर्घ जीवन तथा पठनीय सामग्री से अनेक पत्रों के अभाव की पूर्ति की। राजपूताना से

हिंदी के बहुत से पत्र निकले; दिल्ली, अल्मोड़ा और लाहौर ने भी हिन्दी के पत्र-साहित्य में अपना स्थान स्मरणीय बनाया। इनमें से अधिकांश पत्रों की प्रेरक शक्ति काशी में भारतेन्दु थे; उनका सहयोग बहुत से पत्रों से था।

काशी में "बनारस अखबार" और "सुधाकर" पत्रों के बाद "कवि-वचन-सुधा" निकली जिससे नये पत्र-साहित्य को विशेष प्रेरणा मिली। पहले यह पुस्तकाकार प्रति मास छपती थी और इसमें नये और पुराने साहित्यिक ग्रन्थ प्रकाशित होते थे। कुछ दिन बाद इसे पाक्षिक बना दिया गया और उसमें राजनीतिक तथा सामाजिक विषयों पर लेख निकलने लगे। पीछे से यह साप्ताहिक हो गई। पहले सरकार इसकी १०० प्रतियाँ लेती थी परन्तु भारतेन्दु से असन्तुष्ट होने पर पत्रिका लेना बन्द कर दिया गया। यह पत्र आगे रामशंकर व्यास के हाथ में चला गया और अपने सिद्धान्तों से अलग भी हो गया। इल्बर्ट बिल सम्बन्धी आन्दोलन में उसने राजा शिवप्रसाद का साथ दिया। भारतेन्दु बाबू की मृत्यु पर इसने "एक कालम भी काला न किया" (राधाकृष्ण दास)। उनकी मृत्यु के एक वर्ष बाद ही बन्द भी हो गया। "कवि-वचन-सुधा" ने १८६८ ई० में जन्म लिया था; पाक्षिक से साप्ताहिक होकर १८८५ ई० में उसका अन्त हुआ।

१८७३ ई० में काशी से "हरिश्चन्द्र मैगजीन" निकली। "स्वयं भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र जी कहते थे कि जैसे उमंग के जोरदार लेख मेरे और मेरे मित्रों के मैगजीन में लिखे गये और छपे वैसे फिर न लिख सके" (राधाकृष्णदास)। इसका टाइटिल पेज पहले अँग्रेजी में छपता था। पत्रिका का विवरण उसी पृष्ठ पर इस प्रकार है—

"A monthly journal published in connection with the Kavivachansudha containing articles on literary, scientific, political and religious subjects, antiquities, reviews, dramas, history, novels, poetical selections, gossip, humour and wit."

इस विवरण से स्पष्ट है कि भारतेन्दु हास्यविनोद से लेकर विज्ञान और पुरातत्व तक सभी सामग्री अपनी पत्रिका में देना चाहते थे। उस समय के अनेक पत्रों की यह विशेषता थी कि वे अपने पाठकों को सभी विषयों से थोड़ा बहुत परिचित कराना चाहते थे।

"हरिश्चन्द्र मैगज़ीन" का नाम बदलकर "हरिश्चन्द्र-चंद्रिका" रख दिया गया। १८८० ई० में उदयपुर के मोहनलाल विष्णुलाल पण्ड्या ने इसे ले लिया और "मोहन-चंद्रिका" निकाली। १८८४ ई० में भारतेंदु ने इसे "नवोदिता हरिश्चन्द्र चंद्रिका" नाम से फिर निकाला। दो महीने बाद ही भारतेन्दु का स्वर्गवास हो गया। भारतेन्दु के छोटे भाई ने उसका तीसरा अंक प्रकाशित किया परन्तु तब तक पण्ड्याजी ने उन्हें नोटिस दे दिया कि वे उसे न छापें।

भारतेन्दु की सहायता से काशी नार्मल स्कूल के हेडमास्टर बालेश्वर प्रसाद ने "काशी पत्रिका" निकाली। यह पहले "कवि-वचन-सुधा" के ढंग पर निकलती थी और उसमें भारतेन्दु के कई नाटक छपे थे। पीछे यह स्कूली लड़कों के लिये ही निकाली जाने लगी और उसकी भाषा का आदर्श गिर गया। १८८४ ई० में रामकृष्ण वर्मा ने काशी से "भारत जीवन" नाम का प्रसिद्ध पत्र निकाला। इनके सिवा काशी से "आर्यमित्र", "सरस्वती विलास", "तिमिर नाशक" आदि पत्र भी निकले जो अधिक दिन न चल सके। यहीं से अम्बिकादत्त व्यास ने "वैष्णव पत्रिका" निकाली जो आगे चलकर "पीयूष प्रवाह" के नाम से निकलती रही।

काशी एक प्रकार से हिन्दी का केन्द्र था, दूसरे वह भारतेन्दु का निवासस्थान था, इसलिये यहाँ से इतने पत्रों का निकलना कोई आश्चर्य की बात न थी। यहाँ के पत्रों को सरकार और ऊँचे वर्गों का सहयोग न मिलने पर अथवा उनके असहयोग करने पर भी जनता की सहानुभूति प्राप्त थी। कलकत्ते के व्यापारी वातावरण में पत्र निकलना ऐसा सुकर न था। इसलिये जिन लोगों ने वहाँ कार्य किया, वे और भी सराहनीय हैं। इनमें कार्तिकप्रसाद खत्री मुख्य हैं। इनके

पिता हकीम थे जिन्हें धन की कमी न थी। हरिश्चन्द्र के पिता के समान ही वह धार्मिक थे। उन्होंने भागवत की ५-७ प्रतियाँ सुन्दर अक्षरों में लिखवाकर ब्राह्मणों को दान कर दी थी। कार्तिकप्रसाद उनके इकलौते बेटे थे। जब वह १७ वर्ष के थे तभी पिता का स्वर्गवास हो गया। बहुत सी धन सम्पत्ति, अकेली सन्तान और कलकत्ता नगर,—कार्तिकप्रसाद के लिये पतन का मार्ग खुला था। परन्तु उन्हें भारतेन्दु के समान ही हिन्दी से प्रेम था और हिन्दी सेवा में उन्हीं के समान इन्होंने भी घर फूँककर तमाशा देखा। बचपन से ही वह कुशाग्र बुद्धि थे और उन्हें बंगला, अंग्रेजी और संस्कृत की शिक्षा मिली थी। १४ वर्ष की अवस्था में "अन्न से मनुष्य की उत्पत्ति" पर उन्होंने निबन्ध पढ़ा था। उन्होंने कलकत्ते में पहले "प्रेमविलासिनी" पत्रिका निकाली जिसमें कुछ गाने, कविता तथा समाचार आदि रहते थे। कुछ दिन बाद उसे बन्द कर दिया और तब एक साप्ताहिक निकाला। इस पत्र में उन्हें बहुत घाटा हुआ। ग्राहक बनाने में बड़ी कठिनाइयों का सामना करना पड़ता था। कोई कहता था, अखबार पढ़कर सुना जाया कीजिये; कोई कहता, दाम ले लीजिये, पिंड छूटे, अखबार भेजिये चाहे न भेजिये। "उस समय को स्मरण कर और आज का दिन देख जो आनन्द होता है वह अकथनीय है" (राधाकृष्णदास)। पत्र बन्द हो जाने पर इन्होंने कलकत्ता छोड़ दिया और कुछ दिन रेलवे में नौकरी की; फिर रीवाँ राज चले गये। वहाँ एक बार हिन्दी सम्बन्धी आन्दोलन में इन्होंने दस हजार हस्ताक्षर कराये। रीवाँ से वह आसाम चले गये; कभी चिकित्सा, कभी अपने अंग्रेजी ज्ञान के बल पर खाते पीते रहे। आसाम में इन्होंने हिन्दी पत्रों के बहुत से ग्राहक बनाये। यहाँ इन्होंने पुस्तकों की दुकान खोली जहाँ पढ़ने लिखने की चर्चा हुआ करती थी। वहाँ की जंगली जातियों को ईसाई पादरी रोमन लिपि सिखाते थे। इन्होंने उनमें हिन्दी का प्रचार किया। "उनके यहाँ जंगलों में अनेक कष्ट सहकर जाने और धन व्यय कर उनके शिक्षकों से मिल उन्हें अपने पास से पुस्तकें

देकर हिन्दी पढ़वाने लगे।"* आसाम से यह "उचित वक्ता" "हिन्दुस्थान", "दिनकर प्रकाश" आदि में लेख भेजते रहे। काशी में आकर इन्होंने "भारत जीवन" में काम किया और प्रयाग से "सरस्वती" निकलने पर पाँच सम्पादकों की समिति के यह मन्त्री बने। १६०४ ई० में इनका स्वर्गवास हो गया। कार्तिकप्रसाद खत्री गृहस्थ थे और उनके कई बच्चे थे। इन सब का भार लिये सम्पत्ति का नाश करके काशी के "भारतजीवन" में नौकरी करके साहित्यसेवा करना बड़ी जीवट का काम था।

कलकत्ते से "हिन्दी बंगवासी", "आर्यावर्त", "उचितवक्ता", "भारतमित्र" आदि कई प्रसिद्ध पत्र निकले। छोटूलाल मिश्र और दुर्गाप्रसाद मिश्र ने "भारतमित्र" निकाला। बालमुकुन्द गुप्त के अनुसार जब "भारतमित्र" निकला था, तब कलकत्ते में हिन्दी की चर्चा भी नहीं थी। कठिनाई से ५० ग्राहक बन सके। कुछ लोग पत्र पढ़ना जानते ही न थे; वे "सब कालमों की भाषा को मिलाकर एक साथ पढ़ते थे।"× ऐसे लोगों में अखबार निकाल कर हिन्दी का प्रचार करना भैंस को बीन बजाकर रिझाने से भी कठिन था। दुर्गाप्रसाद मिश्र पहले ही वर्ष "भारतमित्र" से अलग हो गये और उन्होंने "सारसुधानिधि" निकाला जिसका सम्पादन सदानन्द मिश्र करते थे। भारतेन्दु बाबू को उससे बड़ा स्नेह था। यह पत्र बारह वर्ष तक निकलता रहा और निश्चय उस समय का यह श्रेष्ठ पत्र है।

कालाकाँकर के पत्र "हिन्दोस्थान" को उस समय के कुछ चोट के साहित्यिकों का सहयोग अपने सम्पादक मण्डल के रूप में प्राप्त था। बालमुकुन्द गुप्त, महामना मदनमोहन मालवीयजी तथा प्रतापनारायण मिश्र जैसे प्रतिभाशाली लेखक उसके सम्पादक थे। बालमुकुन्द गुप्त ने उस समय को याद करते हुए बाद में लिखा था—"कभी यह गंगा के किनारे किनारे पण्डित प्रतापनारायणजी और दूसरे सज्जनों के

---

* बालमुकुन्द वर्मा कृत कार्तिकप्रसाद खत्री का जीवनचरित्र। पृ० १४।
× गुप्त निबन्धावली—पृ० १५२।

साथ धीरे धीरे टहलना, कभी मालवीयजी के साथ चाँदनी में रेती पर घूमना और कितनी ही तरह की अच्छी बातें करना स्मरण आता है। कालाकाँकर भूलने की वस्तु नहीं है। यह छोटा सा रम्य स्थान सचमुच स्वर्ग का टुकड़ा था।""स्वर्ग में रहकर कोई स्वर्ग का आदर नहीं कर सकता। आज कलकत्ते में यह सब बातें एक एक करके याद आती हैं।"*

यह सुहृद्भाव और सहयोग की भावना उस युग की विशेषता थी। साहित्यिक लड़ाई झगड़े तब भी होते थे परन्तु उनके पीछे हिन्दी-सेवा की आकांक्षा थी, व्यक्तिगत आक्षेप और ईर्ष्या का प्रायः अभाव था। उसके बाद वाले युग में निःस्वार्थ सेवा पीछे पड़ गई और नेतागीरी और बड़प्पन की खोज आगे आ गई।

"हिन्दोस्थान" हिन्दी भाषा और उदार विचारों का समर्थक था। प्रतापनारायण मिश्र की प्रसिद्ध कविता "ब्रैडला स्वागत" इसी में छपी थी। इसके स्वामी राजा रामपालसिंह थे। पहले यह पत्र अँग्रेजी-हिन्दी में इङ्गलैंड में निकला था क्योंकि राजा साहब वहीं थे। फिर उसमें कुछ भाग उर्दू का भी रहने लगा। राजा रामपालसिंह स्वयं हिन्दी-उर्दू में लिखते थे। उनके सहकारियों में अमृतलाल, लालबहादुर, शीतलाप्रसाद उपाध्याय आदि अन्य लेखक थे।

लखनऊ से "दिनकर प्रकाश" नाम का मासिक पत्र ५-६ साल तक निकलता रहा। वहीं से "रसिक-पंच" नामक हास्य रस का मासिक पत्र भी निकला। "काव्यामृत-वर्षिणी" और "भारतभानु" लखनऊ के दूसरे मासिक पत्र थे जो दो दो तीन तीन साल चलने के बाद ठप हो गये। ये दोनों काव्य प्रधान थे। इलाहाबाद से बालकृष्ण भट्ट ने "हिन्दी प्रदीप" निकाला जो दीर्घकाल तक हिन्दी की सेवा करता रहा। यह पत्र स्वाधीन विचारों का समर्थक और अपने समय के श्रेष्ठ पत्रों में था। जिस लगन से अनेक कष्ट सहते हुए वर्षों तक

* गुप्त निबन्धावली—पृ० ८८।

भट्टजी ने इसे चलाया, उसका मूल्य आँकना कठिन है। उनकी दृढ़ता और अध्यवसाय आदर्श हैं। ऐसे ही दीर्घकाल तक इलाहाबाद से "प्रयाग-समाचार" निकलता रहा। जब बालमुकुन्द गुप्त ने हिन्दी पत्रों पर अपना निबन्ध लिखा था, तब यह अपने २४वें वर्ष में जीवित था। तब तक इसके जन्मदाता पं० देवकीनन्दन तिवारी का देहान्त हो चुका था। तिवारीजी ने इस पत्र को संक्षेप में दो पन्नों पर निकाला था। तिवारीजी उस एक पैसे वाले अखबार को स्वयं छापते और कन्धे पर लादकर बेचते थे। "लिखने में यह बड़े स्वतन्त्र थे। जी में आता था सो लिखते थे।" इस पत्र की मनोरंजकता का एक प्रमाण यह है कि प्रतापनारायण मिश्र को इससे बड़ा प्रेम था। कालाकाँकर में गुप्तजी के अनुसार, वह सबसे पहले उसी को खोल कर पढ़ते थे और उसका कोई न कोई समाचार टीका-टिप्पणी सहित "हिन्दोस्थान" में देते थे। हिन्दी पत्र-साहित्य के इतिहास में ये सब ऐतिहासिक घटनाएँ हैं। खुद लिखना, छापना और बेचना, ऐसी बातें कथा-कहानियों में भले मिल जायँ, इतिहास में कम मिलती हैं। जो दृढ़ता और उद्दण्डता एक ही आदमी के ये सब काम करने में है, वह उसके लेखों में भी अवश्य झलकी होगी। प्रतापनारायण मिश्र जैसे व्यक्ति ही जो स्वयं उद्दण्ड प्रकृति के थे, उसका ठीक ठीक आदर कर सकते थे और "प्रयाग-समाचार" जैसे फक्कड़ पत्र से राजा रामपालसिंह और पं० मदनमोहन मालवीय के पत्र में उद्धरण दे सकते थे।

सम्पादक के व्यक्तित्व की छाप जैसी "ब्राह्मण" पत्र पर थी, वैसी और किसी पर नहीं। इसे कानपुर से प्रतापनारायण मिश्र ने निकाला था और उनकी नस नस में जो शरारत और विद्रोह भरा हुआ था, वह इसकी एक एक लाइन से प्रकट होता था। हास्य के साथ स्वाधीन चेतना फैलाने में यह पत्र सबसे आगे था। इसी से कुछ कुछ मिलता जुलता राधाचरण गोस्वामी का "भारतेन्दु" था, जिसे उन्होंने वृन्दावन से निकाला था। अलीगढ़, शाहजहाँपुर, फर्रुखाबाद, अल्मोड़ा आदि से भी कई पत्र निकले। अल्मोड़ा जैसी जगह में दीर्घकाल से "अल्मोड़ा

अखबार" निकालने के लिये बालमुकुन्द गुप्त ने उसके संचालकों आदि की बड़ी प्रशंसा की है। सुदूर बम्बई और लाहौर से भी अनेक पत्र निकले जिनमें लाहौर का "मित्र-विलास" उल्लेखनीय है। देशी राज्यों में अनेक स्थानों से जो पत्र निकाले गये, उनमें कभी तो राज्याधिकारियों का सहयोग रहता था, कभी सम्पादकों को उनके सन्देह और क्रोध का सामना करना पड़ता था। अजमेर में समर्थदान के पत्र "राजस्थान-समाचार" ने दीर्घकाल तक जीवित रहकर वहाँ हिन्दी की ओर लोगों की रुचि बढ़ाई। "मारवाड़-गजट" पर गुप्तजी का नोट रजवाड़ों में हिन्दी-उर्दू समस्या पर प्रकाश डालता है। यह पत्र हिन्दी-उर्दू दोनों में निकलता था; "रियासती प्रजा में उर्दू जानने वाले लोग बहुत अल्प हैं, इसी से उर्दू के साथ साथ एक कालम हिन्दी भी रखना पड़ा। अर्थात् उर्दू का कालम अहलकारों के लिये और हिन्दी का प्रजा के लिये हुआ।"

रियासतों के दीर्घजीवी पत्रों में उदयपुर का "सज्जन-कीर्ति-सुधाकर" था जिससे उदयपुर-नरेश महाराज सज्जनसिंह का सहयोग स्पष्ट है। इनकी भारतेन्दु से मैत्री थी और अनेक पत्रों को इनसे सहायता मिली थी। बूँदी का "सर्वहित" और रीवाँ का "भारत-भ्राता" नाम से ही उदार विचारों के पत्र जान पड़ते हैं। ग्वालियर से "ग्वालियर-गजट" गुप्तजी के अनुसार उनके समय के पत्रों में सबसे पुराना था। जयपुर से "जयपुर-गजट" अँग्रेजी-हिन्दी में निकलता था। देशी राज्यों में प्रेस की स्वाधीनता और भी कम थी; इसलिये वहाँ तो अखबार निकालना ही अपने को दरबार का कोपभाजन बनाना था। देशी राज्यों में अनेक कठिनाइयों के होते हुए भी इन पत्रों ने देश और भाषा की जो सेवा की वह अनुपम है। यदि उनके राजनीतिक विचार बहुत पिछड़े हुए लगते हैं तो इससे यह न समझना चाहिये कि सम्पादक और लेखक भी पिछड़े विचारों के थे। उनके सामने प्रश्न विचार ढूँढने का उतना न था जितना अपने विचारों को किसी न किसी रूप में प्रकाशित करने के लिये साधन ढूँढने का था। इसमें

उनकी कठिनाइयाँ ब्रिटिश भारत के पत्रकारों से अवश्य ही अधिक थीं।

उस समय साप्ताहिक पत्रों में तो अधिकतर सामाजिक और राजनीतिक विषयों पर लेख रहते थे। परन्तु मासिक पत्रों में विषयों का कोई निश्चित चुनाव न होता था। साहित्य, राजनीति, विज्ञान आदि विषयों के अपने अलग अलग पत्र न थे। संचालक अपने पाठकों को सभी विषयों की थोड़ी-थोड़ी जानकारी कराना चाहते थे। साहित्य इनमें प्रधान था। परन्तु साहित्य हो चाहे राजनीति, लेखक का ध्येय पाठकों को देश की दशा से परिचित कराना तथा उन्हें सचेत कर पुरानी रूढ़ियों से तोड़ नई विचारधारा की ओर ले आना होता था। प्रत्येक विषय के अलग पत्र न होते हुए भी स्त्री-शिक्षा के लिए दो तीन पत्र अलग से निकाले गये थे। पतित दरबारी संस्कृति में स्त्रियाँ दासों के समान हैं; उनमें शिक्षा-प्रचार का विचार भी करना साँप के मुँह में उँगली डालने के समान था। स्त्री-शिक्षा में भारतेन्दु बाबू की विशेष रुचि थी और उनके घर में इसका प्रचार भी हुआ था। उन्होंने "बालाबोधिनी" पत्रिका केवल स्त्री-शिक्षा के लिए निकाली थी। स्त्री-शिक्षा के अभाव में स्त्रियों का लेखिका बनना तो स्वप्नवत् था, फिर भी प्रयाग से एक बैरिस्टर की धर्मपत्नी श्रीहरिदेवी ने "भारत-भगिनी" नाम की पत्रिका निकाली जो राधाकृष्णदास के हिन्दी पत्रों पर पुस्तक लिखने के समय तक निकल रही थी। श्रीहरिदेवी "भारतेन्दु" आदि दूसरे पत्रों में भी लिखती थीं और अपने समय की एक सुलेखिका थीं। ऐसे ही लाहौर के प्रसिद्ध हिन्दी सेवक राय नवीनचन्द्र की पुत्री श्रीहेमन्तकुमारी देवी "सुगृहिणी" पत्र की सम्पादिका थीं। समय को देखते हुए इतना भी बहुत था।

बंगाल, बिहार, युक्तप्रान्त, पंजाब, बम्बई और राजपूताना में जो पत्र निकले उनमें व्यक्तिगत चेष्टा और अध्यवसाय अधिक था, सभा-समितियाँ अथवा धनी व्यक्तियों का सहयोग कम था। तब के सेठ लोग आज की ही भाँति अथवा आज से भी अधिक भाषा और साहित्य की ओर से उदासीन थे। इसीलिये "ब्राह्मण" जैसे पत्र को दो आना मूल्य रखते हुए भी ग्राहक बनने के लिए लोगों से अपीलें करनी पड़ती

थी। सरकार के प्रेस एक्ट आदि का भय अलग था। इन सब कठिनाइयों के होते हुए भी उस युग के समर्थ पत्रकारों ने कलकत्ता, लाहौर और बम्बई के त्रिकोण में हिन्दी पत्रों का एक जाल सा बिछा दिया। उनमें बहुत से पत्र शीघ्र ही निकल कर बन्द हो गये। इसका कारण संचालकों की असमता उतनी न थी जितनी परिस्थितियों की कठोरता थी। फिर भी हरिश्चन्द्र-चन्द्रिका, हिन्दी प्रदीप, सारसुधानिधि, हिन्दोस्तान आदि उस समय के श्रेष्ठ पत्र हैं जो आज भी हमारे लिये अनेक बातों में आदर्श हैं। पत्रों के इस जाल को बिछाने में भारतेन्दु का कितना हाथ था यह ठीक ठीक जाँचना कठिन है। उत्साहित वह सभी को करते थे और लेख भी बहुतों को भेजते थे। पत्र-साहित्य की परम्परा न होते हुए भी उसने थोड़े ही वर्षों में जो उन्नति की, उसका एकमात्र कारण लेखकों की धुन थी। परिस्थितियाँ कठोर थीं परन्तु उन्होंने अपने आपको दृढ़तर सिद्ध किया। कार्तिकप्रसाद खत्री सरीखे धनी व्यक्तियों ने जंगलों की खाक छानी और दूसरों के पत्र में नौकरी कर अपने जीवन का अन्त कर दिया। हिन्दी प्रदीप का दीर्घ जीवन उसके संचालक सम्पादक की दीर्घ तपस्या का जीवन था। प्रयाग-समाचार के मुद्रक, प्रकाशक, लेखक, सम्पादक और विक्रेता की कहानी उस युग की भावना की प्रतीक है। यदि उस युग के साहित्यिकों ने यह लगन और फक्कड़पन न प्रकट किया होता तो निश्चय ही यह परिस्थितियों के नीचे कुचल दिये गये होते। यह खेद की बात है कि उनके त्याग और परिश्रम से लाभ उठाकर इस युग के पत्र-साहित्य ने वैसी उन्नति नहीं की जैसी उसे करनी चाहिये थी।

पत्र-साहित्य और प्रगति

'सारसुधानिधि' में 'तुम्हें क्या' नाम के एक लेख में राधाचरण गोस्वामी ने लिखा था—'हम देशीय पत्र सम्पादक हैं, हमारा सत्य कहना बुरा लगा, हमसे खुशामद कराने के लिए प्रेस ऐक्ट की घुड़की दिखलाई पर तुम्हें क्या ? हम झूठ तो नहीं बोलते, तुम्हारी वृथा खुशामद तो नहीं करते।' पत्रकारों के सामने जो समस्या थी, वह बहुत कुछ इन वाक्यों में प्रकट हो गई है। या तो झूठ बोल कर खुशामद की जाय या सच कह कर प्रेस एक्ट की चपेट में अदालत की या हवालात की हवा खाई जाय। इसलिए सरकार की आलोचना के लिए व्यंग्य और हास्य का अधिक सहारा लिया जाता था। कभी लोग सब कुछ कह जाने के बाद सरकार की थोड़ी-सी प्रशंसा कर देते थे; कभी खरी ही खरी सुनाते थे जिसमें लगी-लिपटी की गुंजाइश ही न होती थी।

'हरिश्चन्द्र मैगजीन' जैसा कि उसके टाइटिल पेज के विवरण से प्रगट है, बहुत से विषयों को लेकर चलनेवाली पत्रिका थी। परन्तु उसके पहले ही अङ्क में एक मनोरंजक प्रश्नावली छपी है—'यूरोपी-

के प्रति भारतवर्षीय के प्रश्न।' इसी में एक प्रश्न है, 'यदि प्रजा में हैं तो उसे प्रजा-सी क्यों बलि देते हैं?....यदि जन में हैं तो उसे फाँसी देकर क्यों मारते हैं?' प्रश्नों के साथ कुछ अपनी ओर से समाधान भी है जैसे "बाहर की सरलता अंतःकरण की कुटिलता दोनों वर्णन के बाहर हैं।' और इससे जान पड़ता है कि न आप पण्डित की ओर हैं न मूर्ख की जैसे धोबी का कुत्ता न घर का न घाट का।' दूसरे अङ्क में 'कलिराज की सभा' नाम का मनोरंजक निबन्ध है जिसमें सरकार के पिट्ठुओं की खबर ली गई है। कलियुग के दाहिनी ओर 'के० सी० एस० आई० कलियुग के सगे भाई, बड़े अन्यायी, पदमा लगाये, अँग्रेजों की खुशामद में जनम गँवाये, पाप कमाये बैठा है।' गद्य में अनुप्रास के लिए यदि कहीं स्थान है तो इसी प्रकार के गद्य में। 'के० सी० एम० आई० के पास एक लाला प्याला ढारे, चित्रगुप्त के सन्तान, स्वारथ में सुजान, कलियुग के दिवान बैठे हैं।' इस निबन्ध के लेखक मुंशी ज्वालाप्रसाद थे। इसलिए लाला-प्याला वाला व्यंग्य बिल्कुल निर्दोष हो जाता है।

'हरिश्चन्द्र मैगज़ीन' में अँग्रेज़ी में भी निबन्ध आदि छपते थे। सातवें अङ्क में नवशिक्षित बाबुओं की अँग्रेज़ी की खिल्ली उड़ाई गई है, साथ ही उनकी दयनीय दशा भी प्रकट की गई है। एक कविता का एक छन्द इस प्रकार है :—

'When I go Sir! molakat ko, those chaprasis
Trouble me much;
How can I give daily Inam, ever they ask
Me I say such,
Some time they me give gardaniya
And tell bahar niklo tum
Dena na lena muft ke aye yaha hain
Bare Darbari ki dum.'

इसी अङ्क में 'वसंतपूजा' नाम का एक छोटा प्रहसन है। दो पण्डितजन 'कोतवाल', 'थानेदार', 'नाजिर' आदि देवताओं के नाम

लेते हैं और उनकी प्रार्थना में कहते हैं—'सलामश्च ते बन्दगी च ते घूसश्च ते चन्दा च ते श्रङ्गरेस्च ते....' इत्यादि। क्षत्रियों के लिए एक उपदेश में कहा गया है—'साहसी भी बड़े हो क्योंकि दीनों को पाते ही पीस डालते हो। परन्तु हट्टे-कट्टे को देख तुम दबाकर घर की राह लेते हो।' इस प्रकार की उक्तियों में व्यंग्य है परन्तु बिल्कुल खरा। सीधी बात कहने में इतनी गहरी मार नहीं होती, जितनी इस प्रकार के व्यंग्य में।

नवें अङ्क से मैगज़ीन 'हरिश्चन्द्र-चन्द्रिका' हो गई है और ऊपर का विवरण भी हिन्दी में छपा है। दूसरे वर्ष के तीसरे अङ्क में 'अँगरेज़ों से हिन्दुस्तानियों का जी क्यों नहीं मिलता' नाम के लेख में हिन्दुस्तानी और अँगरेज़ों में भक्ष्य और भक्षक का सम्बन्ध बतलाया गया है। इस पत्रिका में भाषा-सम्बन्धी आन्दोलन विशेष होता था। हिन्दी और अँगरेज़ी दोनों भाषाओं में ही इस विषय पर लेख होते थे और दूसरे विद्वानों के भी मत उद्धृत किये जाते थे। ब्रजभाषा में लिखी हुई कविता की प्रधानता थी; साथ में संस्कृत रचनाएँ भी छपा करती थीं। नाटक अधिक छपते थे, उपन्यास कम। विज्ञान और इतिहास पर भी लेख निकलते थे। तोताराम, काशीनाथ, श्रीनिवासदास, बिहारी चौबे आदि इसके लेखकों में थे। सब बातें देखते हुए इस पत्रिका में पुरानापन काफी था और उच्चकोटि का राजनीतिक या सामाजिक या सामाजिक साहित्य कम छपता था। इसका कारण यही था कि यह पत्र-साहित्य में अभी प्राथमिक प्रयास था।

'हिन्दी प्रदीप' का प्रधान आकर्षण उसके सम्पादक बालकृष्ण भट्ट के लेख थे। इनमें कुछ तो मनोवैज्ञानिक छानबीन की छाया लिये हुए होते थे जैसे 'माधुर्य' पर जिसमें ज्वार की रोटी से लेकर साहित्य तक के माधुर्य पर विचार किया गया है। कुछ लेख हास्य विनोद के होते थे और येही अधिक अच्छे होते थे। देश-दशा की ओर से यह पत्र खूब सचेत है। इसकी जिल्दों को पढ़ने से उस समय के राजनीतिक, सामाजिक और धार्मिक आन्दोलन आँखों के सामने सजीव हो उठते हैं। भट्टजी उदार विचारों के लेखक थे। यज्ञ का अर्थ करते थे, कोई

महान् कार्य करना। यश का उदाहरण दिया था, कॉंग्रेस। व्यापारियों की प्रशंसा करते हुए उन्होंने स्वदेशी वस्तुओं के व्यवहार के लिए अपील की थी—'यही सुशिक्षा और सभ्यता का दम भरनेवाले हम हैं कि देशी चीज़ों के वर्ताव के लिए हज़ार सिर धुनते हैं और प्रत्यक्ष देख भी रहे हैं कि देश की बनी वस्तुओं को काम में न लाने से दरिद्रता देश में डेरा किये है पर विलायती चीज़ों के चटकीलेपन और नफ़ासत में ऐसे फँसे हैं कि हमारे हज़ार बार के लेक्चर का एक भी फल न हुआ।' (जिल्द ३१, सं० ४)। भारतेन्दु बाबू ने स्वदेशी आन्दोलन का सूत्रपात किया था; भट्टजी तथा अन्य लेखक उस आन्दोलन को बराबर बढ़ाते रहे थे।

'अमृतबाज़ार पत्रिका' तथा 'पायनियर' में एक बार विवाद चलने पर उस पर एक लेखक ने जो टीका की थी, उससे उस समय के पत्रकारों की स्थिति पर प्रकाश पड़ता है। जनता को देश-दशा से परिचित कराना या सरकार की आलोचना करना राजद्रोह में शामिल था। इसी पर लिखा था—'अब रहा राजद्रोह सो यह निश्चय रहे कि देशी पत्र अँगरेज़ कर्मचारियों पर मारे डर के इसलिए नहीं लिखते कि पिनल कोड तो एक ओर रहे मजिस्ट्रेट साहब का ज़रा सा इशारा काफ़ी है।' इन आपदाओं के होते हुए भी 'हिन्दी प्रदीप' अपने समय के निर्भीक पत्रों में था। दुर्भिक्ष सम्बन्धी साहित्य इसमें विशेष छपा था। एक अङ्क में बेकार की बड़ी सुन्दर नक़ल छपी है। बेकार लेख लिखकर गुज़ारा करना चाहता है परन्तु उसके लेखों में आक्षेप और ताने आ ही जाते हैं, इसलिए रुढ़ियों के प्रेमी उसके लेख पसन्द नहीं करते। वह जाड़े की रात में ठिठुरता है, पुआल बिछाता है और वही ओढ़ता है, लैम्प की चिमनी पर हाथ रखकर सेंकता है। आगे चलकर उसकी दशा बदल जाती है जो एक काल्पनिक इच्छापूर्ति के समान है। आधे भाग में बेकारी का सुन्दर चित्रण हुआ है। उस समय के अनेक अच्छे लेखकों का इस पत्र से सहयोग था। भट्टजी के गद्य में कुछ नागरिकता की पुट है जिससे वह युग की धारा से अलग-सा है। उस समय का प्रतिनिधि गद्य हमें भारतेन्दु, राधाचरण गोस्वामी, प्रतापनारायण मिश्र,

सदानन्द मिश्र आदि लेखकों में अधिक मिलता है।

'भारतमित्र' में राजनीति की प्रधानता थी। यह पहले पाक्षिक निकला था, फिर साप्ताहिक हो गया था। 'बिहार-बंधु' से एक बार इस पत्र का कुछ भाषा-सम्बन्धी विवाद चल पड़ा था। तब भाषा-सम्बन्धी नीति पर इस पत्र ने जो नोट छापा था, वह ध्यान देने योग्य है। कुछ लोगों ने प्रचार कर रक्खा है कि हिन्दी के मूल विकास में विदेशी शब्दों का बहिष्कार है और हिन्दी लेखकों ने उन्हें चुन-चुनकर निकाला तथा हिन्दी का रूप स्थिर किया था। इस नोट में कही बातें सच हैं, उसका प्रमाण उस युग का गद्य है जिसमें यही सिद्धान्त बरते गये हैं और जिसमें तब के लेखकों की भाषा-सम्बन्धी उदारता प्रकट है। 'भारतमित्र' ने लिखा था—'हम लोगों की हिन्दी भाषा है। यद्यपि ये प्राकृत से उत्पन्न हुई है तथापि संस्कृत का अखण्ड भण्डार इसकी समृद्धि वृद्धि करे है और जो इसमें कहीं-कहीं सूरसैनी, मागधी, माथुरी, फारसी, अरबी और अँग्रेजी भी सरल भाव से मिल गई हैं, तो क्या इसको बिगाड़ती हैं? हमारी समझ में तो स्वभाव सुन्दरी हिन्दी को वरन् अलंकृत करती हैं। परन्तु ऐसा कहने से ये नहीं समझना कि अब हम अरबी, ईरानी, तुर्की और यूनानी आदि से हिन्दी को ढाँक दें और मूल में आघात करें। इन सब भाषाओं के शब्द तो वो ही रखने चाहिये जो सब कि इसमें मिल गये हैं।' यदि इस नोट को हम बाबू सम्पूर्णानन्द के साहित्य-सम्मेलन वाले भाषण से मिलावें तो देखेंगे कि हिन्दी लेखकों ने बराबर इस विषय में उदारता ही दिखाई है। प्रचलित शब्दों का उन्होंने विरोध नहीं किया; देशी शब्दों को हटाकर बाहर के अप्रचलित शब्द ठूँसने के वे कभी पक्ष में नहीं रहे। फिर भी कुछ लोगों ने शुद्ध हिन्दी का एक हौवा खड़ा कर उस पर चाँदमारी का खूब अभ्यास किया है। इस प्रकार वे अपनी भाषा सम्बन्धी अनुदार नीति पर पर्दा डालना चाहते हैं।

'भारत-मित्र' ने पहले ही अङ्क में लिखा था—'समाचार पत्र प्रजा का प्रतिनिधि स्वरूप होता है।' उसने इस सत्य को बहुत कुछ पालन

भी किया था। काबुल की लड़ाई पर इसमें धारावाहिक रूप से टीका होती रही थी। इन लेखों से राजनीतिक समस्याओं की अच्छी जानकारी प्रकट होती है, यद्यपि शैली सरल और मनोरंजक ही रखी गई है। ऐसे ही एक सम्पादकीय लेख से कुछ वाक्य यहाँ दिये जाते हैं जिनसे उस समय के राजनीतिक लेखों की शैली समझ में आ जायगी। 'अँग्रेजों ने काबुल के ऊँट को बलवान करने के लिए कई बरस से चारा दिया पर जब उस पर बोझ लादने का विचार किया तब वह दुलत्ती छाँटने लगा। उस पर अँग्रेजों ने उसकी नकेल पकड़ के अपनी तरफ जब जोर से खींचा तब तो काटने दौड़ा। तिस पर अँग्रेजों ने लाचार होके चाबुक मारने का बन्दोबस्त किया, किसलिए कि 'ढोल गँवार, शूद्र पशु नारी, सकल ताड़ना के अधिकारी।' इसलिए अब सीमा पर अँग्रेज सेना बादल के समान चारों ओर से इकट्ठी हो रही है और ऑफिसर लोग बिजली के समान कड़क रहे हैं।'

एक अङ्क में 'भारतमित्र' ने हिन्दुस्तान से विदेश चावल भेजने का विरोध किया था। उस लेख का शीर्षक था—'अपने को ठाँव नहीं पाँच वीर संग चलें।' अर्थात् भारतवासी स्वयं भूखों मरते हैं, वे बाहर चावल किस बिरते पर भेजें। इस तरह के चटपटे शीर्षक देने से ये राजनीतिक लेख चाव से पढ़े जाते थे। स्पष्टता और गम्भीरता से 'भारतमित्र' ने यह भी लिखा था—'इस देश में आजकल जैसी दुर्भिक्ष की बढ़ती है, उसके लिए देशहितैषी समदुःखीगणों को यह उचित है जो पहले भारत को उस कष्ट से बचावें, तब उससे और का उपकार करें। जो स्वयं दीन, निराहार और मुट्ठी भर अन्न के लिये लालायित रहते हैं, उनसे साहाय्य की प्रार्थना करना और बलपूर्वक छीन लेना दोनों एक ही समान हैं।' इन वाक्यों से मालूम हो जायगा कि सारी बात हास्य विनोद में ही न टाल दी जाती थी। लेखकों का ध्येय जनता को सजग करना था, और इसके लिए वे जटिल वाग्जाल में न पड़कर मनोरंजक शैली का ही सहारा लेते थे। यदि अपनी रुदनशील शैली को छोड़कर अनेक प्रगतिशील लेखक 'भारतमित्र' की शैली

को अपनावें तो वे अपनी बात जनता तक अधिक सरलता से पहुँचा सकेंगे।

'सारसुधानिधि' उस समय का एक अत्यन्त सतेज और सचेत पत्र था, यह पहले ही कहा जा चुका है। इसमें राजनीतिक और सामाजिक आन्दोलनों को उभारनेवाली कविताएँ और व्यंग्यपूर्ण लेख छपा करते थे। एक अङ्क में इस प्रकार के कई होली के गीत निकले थे। टैक्स, महँगी, दुर्भिक्ष आदि का उल्लेख ऐसे गीतों में बराबर रहता था।

'इत अकाल उत टिकस लगायो कर सब पै बरजोरी।
तेब अनाज ठीक कहुँ नाहीं मरत प्रजा सब ठोरी।
भीख माँगत लै भोरी।'

गद्य में भी इन बातों की ओर बराबर ध्यान आकर्षित किया जाता था। "टैक्स पर टैक्स, अकाल पर अकाल, और मरी पर मरी यही देखी जाती है। नित्य नये आईनों से बेधा जाता है, और नित्य नई स्पीचों से नोंन छिड़का जाता है। (१-१६) 'काबुल-सन्धि होने पर भी 'सारसुधानिधि' ने सरकार की खरी आलोचना की थी! काल्पनिक भय दिखाकर एक युद्ध छेड़ा गया था और दरिद्र प्रजा को सताकर पैसा वसूल किया गया था। 'देशभर में रोदन और हाहाकार के भिन्न कुछ भी नहीं सुनाई देता है' (१-२२)। दुर्भिक्ष दूर करने के लिए जो टैक्स लगाया गया था, वह उन्हीं से वसूल किया गया था, जिनके हित के लिए लगाया गया था। इम्पीरियल लाइसेंस पर टीका करते हुए, 'सारसुधानिधि' ने अर्थमन्त्री की भी खबर ली थी। उनकी चतुरता ऐसी थी कि 'इधर तो तेली-तम्बोली, नाई-धोबी, घसियारे-नालबन्द और हाड़ी-मोची तक कोई न छूटा। पर उधर देखो तो सर जॉन स्ट्राची साहिब आदि बड़ी-बड़ी तलब और वेतन-भोगी महाभाग्य महाशयों को इस लाइसन की छया नहीं लगी।' उस समय के राजनीतिक नेताओं की स्पीचों को देखते हुए इस प्रकार के लेख बहुत ही उग्र जान पड़ते हैं।

भी किया था। काबुल की लड़ाई पर इसमें धारावाहिक रूप से टीका होती रही थी। इन लेखों से राजनीतिक समस्याओं की अच्छी जानकारी प्रकट होती है, यद्यपि शैली सरल और मनोरंजक ही रखी गई है। ऐसे ही एक सम्पादकीय लेख से कुछ वाक्य यहाँ दिये जाते हैं जिनसे उस समय के राजनीतिक लेखों की शैली समझ में आ जायगी। 'अँग्रेजों ने काबुल के ऊँट को बलवान करने के लिए कई बरस से चारा दिया पर जब उस पर बोझ लादने का विचार किया तब वह दुलत्ती छाँटने लगा। उस पर अँग्रेजों ने उसकी नकेल पकड़ के अपनी तरफ जब जोर से खींचा तब तो काटने दौड़ा। तिस पर अँग्रेजों ने लाचार होके चाबुक मारने का बन्दोबस्त किया, किसलिए कि 'ढोल गँवार शूद्र पशु नारी, सकल ताड़ना के अधिकारी।' इसलिए अब सीमा पर अँग्रेज सेना बादल के समान चारों ओर से इकट्ठी हो रही है और ऑफिसर लोग बिजली के समान कड़क रहे हैं।'

एक अङ्क में 'भारतमित्र' ने हिन्दुस्तान से विदेश चावल भेजने का विरोध किया था। उस लेख का शीर्षक था—'अपने को ठाँव नहीं पाँच बीर संग चलें।' अर्थात् भारतवासी स्वयं भूखों मरते हैं, वे बाहर चावल किस बिरते पर भेजें। इस तरह के चटपटे शीर्षक देने से ये राजनीतिक लेख चाव से पढ़े जाते थे। स्पष्टता और गम्भीरता से 'भारतमित्र' ने यह भी लिखा था—'इस देश में आजकल जैसी दुर्भिक्ष की बढ़ती है, उसके लिए देशहितैषी समदुःखीगणों को यह उचित है जो पहले भारत को उस कष्ट से बचावें, तब उससे और का उपकार करें। जो स्वयं दीन, निराहार और मुट्ठी भर अन्न के लिये लालायित, रहते हैं, उनसे साहाय्य की प्रार्थना करना और बलपूर्वक छीन, लेना दोनों एक ही समान हैं।' इन वाक्यों से मालूम हो जायगा कि सारी बात हास्य विनोद में ही न टाल दी जाती थी। लेखकों का ध्येय जनता को सजग करना था, और इसके लिए वे जटिल वाग्जाल में न पड़कर मनोरंजक शैली का ही सहारा लेते थे। यदि अपनी रुदन-शील शैली को छोड़कर अनेक प्रगतिशील लेखक 'भारतमित्र' की शैली

जैसी चीजें पाते हैं। रुपया रहा तब तक नशा रहा; जब न रहा तब "लोग ताशा सा पेट बजाते भूख-भूख चिल्ला रहे हैं !"

ऊपर के विवेचन से भारतेन्दु-युग के पत्र-साहित्य की मनोरंजकता और प्रगतिशीलता का थोड़ा बहुत अन्दाज़ हो जायगा। राजनीतिक वातावरण मे जो रूढ़िप्रियता, अन्धपरम्परा-प्रियता, शासकों की खुशामद और अपनी सभ्यता के प्रति हीन भावना फैली हुई थी, उसे देखते हुए हिन्दी पत्रकारों की निर्भीक लेखन-शैली और भी चमक उठती है। उनमें पर्याप्त साहस था और उस साहस का उपयोग वे बेपर की बातें करने में न करते थे वरन् वे दिन-प्रति-दिन का देश तथा विदेश सम्बन्धी समस्याओं के विवेचन में उसका उपयोग करते थे। काबुल युद्ध, जुलू और अँग्रेजों की लड़ाई आदि पर जो कुछ तब लिखा गया था, उससे और साफ-सुथरा कुछ लिखना आज के लेखक के लिए भी कठिन है। सबसे बड़ी बात उनकी सरल भाषा और मनोरंजक शैली है। वे जनता के हित का नारा बुलन्द न करके वास्तविक जन-साहित्य की सृष्टि करने में लगे थे। अकाल, महामारी, टैक्स, किसानों की निर्धनता, स्वदेशी आदि पर उन्होंने सीधे सरल ढंग से निबन्ध और कविताएँ लिखीं। कविता उतनी उच्च कोटि की नहीं हो पाई परन्तु उनके निबन्ध साहित्य की अमर सम्पत्ति हैं। सामयिकता को उन्होंने ऐसा मनोरंजक बना दिया है कि प्रत्येक सचेत और प्रगतिशील युग उसकी ओर सहानुभूति से देखेगा।

आज हमारी समस्याएँ अधिक पेचीदा हैं; सामाजिक परिस्थिति उतनी सीधी नहीं है जितनी उस "विक्टोरियन" युग में। परन्तु इङ्गलैंड के विक्टोरियन-युग की आत्मतुष्टि, उसकी समझौते की मनोवृत्ति, रूढ़ि-प्रियता, मानसिक गुलामी आदि बातों का भारतेन्दु-युग में अभाव है। जनता में जागृति फैलाने का प्रधान साधन पत्र थे। पत्र-साहित्य में उस समय की उग्र राजनीतिक चेतना भली भाँति प्रकट हुई है। भाषा और शैली में तब के पत्रकारों ने जो आदर्श अपने सामने रखा, वह हमारे लिए आज भी अनुकरणीय है। हमारी समस्याएँ पेचीदा अवश्य हैं परन्तु

'सारसुधानिधि' का उस समय खूब प्रचार और आदर था, इसमें सन्देह नहीं। एक मुसलमान सज्जन सलाम हुसेन साहब वकील ने इस पत्र के लिए चन्दा भेजते हुए सम्पादक को हिन्दी में एक प्रशंसा-पूर्ण पत्र लिखा था, जिसे सम्पादकीय स्तम्भ में उद्धृत भी किया गया था। बीच में सम्पादक के बीमार हो जाने से तीन महीने तक पत्र बन्द रहा। पत्र के बन्द होने पर भारतीय पत्रों ने तो सहानुभूति प्रकट की ही थी, अँग्रेज़ी के पत्रों ने भी उस पर टीका करते हुए अपना प्रेम प्रकट किया था (इण्डियन मिरर, ६ जुलाई १८८० ई०)। लार्ड लिटन के भारत छोड़ने पर 'भारत-बन्धु' ने उसकी प्रशंसा में एक लेख लिखा था। 'सारसुधानिधि' ने 'भारतबन्धु की अदूरदर्शिता' लेख लिखकर उसका तीव्र प्रतिवाद किया। 'भारत-बन्धु' ने लिखा था कि प्रेस ऐक्ट से देश की कोई हानि न हुई थी; इस पर उसको खूब लथेड़ा गया। यह एक लम्बा लेख था और लगभग सात कालमों में समाप्त हुआ था। वैसे भी 'सारसुधानिधि' प्रेस ऐक्ट का बराबर विरोध करता रहा था। इसके सम्पादकीय लेख रोचक और विचारपूर्ण होते थे। बहुत पहले इस पत्र ने 'भारतवर्ष में प्रतिनिधि शासन-प्रणाली की आवश्यकता' की आवाज़ उठाई थी (११ जुलाई १८८० ई०)। किसानों की अवस्था पर इसमें अच्छे लेख निकले थे; ब्रिटिश राज्य में ही नहीं, देशी राज्यों में भी स्थायी बन्दोबस्त के लिए इस पत्र ने आन्दोलन किया था। 'वैज्ञानिक कृषि की आवश्यकता' पर ४ अक्टूबर १८८० ई० के अङ्क में एक सम्पादकीय लेख प्रकाशित हुआ था। हिन्दी-प्रचार का आन्दोलन इसमें बराबर होता था। हैदराबाद में निज़ाम के शासन में हिन्दी के साथ दुर्व्यवहार पर तब भी लेख निकले थे।

'सारसुधानिधि' में राजनीतिक लेखों के साथ नाटक, उपन्यास, व्यंग्यपूर्ण लेख आदि भी छपते थे। व्यंग्यपूर्ण निबन्धों में राधाचरण गोस्वामी लिखित 'यमलोक की यात्रा' उस युग की श्रेष्ठ रचना है। इधर-उधर हास्य के छींटे और व्यंग्य का पुट देना उतना कठिन नहीं है; इस प्रकार की एक लम्बी रचना में हास्य और व्यंग्य को एक ही

धरातल पर निबाहे जाना बड़ी ऊँची प्रतिभा का काम है। इस लेख की चर्चा विशेष रूप से आगे की जायगी। पुस्तकों की आलोचनाएँ इसमें विशेष छपती थीं; खगोल, पदार्थ-विज्ञान, इतिहास, शासन-तन्त्र आदि पर भी लेख रहते थे। इसके सम्पादक सदानन्द मिश्र विज्ञान का एक अलग से पत्र निकालना चाहते थे और इसकी उन्होंने सूचना भी प्रकाशित की थी। अन्य लेखकों का सहयोग इस पत्र को प्राप्त था परन्तु उनमें राधाचरण गोस्वामी या सदानन्द मिश्र की प्रतिभा का कोई न था। ये दोनों अपने युग के श्रेष्ठ गद्य लेखकों में थे और उनकी रचनाओं को देखते हुए 'सारसुधानिधि' की और सामग्री कभी-कभी फीकी लगती है। सदानन्द मिश्र का नाम हिन्दी लेखकों में प्रसिद्ध नहीं है परन्तु उनका गद्य सुथरा और ओजपूर्ण होता था। दुर्भाग्य से उनके लेख पत्र की पुरानी जिल्दों में बन्द हैं। उनमें एक दृढ़ निर्भीक व्यक्तित्व का दर्शन होता है; उस युग की पत्रकार-कला में निःसन्देह यह अन्यतम थे। उनका पत्र तब के जन-साहित्य का प्रतीक है। 'पीयूष-प्रवाह' की उक्ति यहाँ और भी ठीक उतरती है—

'अर्जुनस्य प्रतिज्ञे द्वे न दैन्यं न पलायनम्।'

कानपुर के 'ब्राह्मण' पत्र में फक्कड़पन अधिक था। 'निन्दन्तु नीति निपुणाः' आदि वाक्य उसकी निर्भीकता और फक्कड़पन के द्योतक हैं। दो आने मूल्य का यह एक छोटा-सा पत्र था और अपने सम्पादक के व्यक्तित्व के सहारे ही चलता था। राजनीतिक लेख इसमें कम रहते थे; व्यंग्य और हास्य की प्रधानता लिये इसके लेखों में राजनीतिक चेतना एक दूसरे रूप में प्रकट होती थी। प्रतापनारायण मिश्र के हास्यपूर्ण लेख ही इसमें पठनीय होते थे; और तरह की सामग्री कम होती थी। प्रतापनारायण भी जब गम्भीर विषयों पर लिखते थे तो उनका गद्य शिथिल होता था। इसके विपरीत राधाचरण गोस्वामी के पत्र 'भारतेन्दु' में विविध प्रकार की रोचक सामग्री होती थी। उसका प्रतिज्ञा-वाक्य था—'कार्यं वा साधयेयम् शरीरं वा पातयेयम्।' उस समय के पत्रों के प्रतिज्ञा-वाक्य भी विचित्र हैं। सम्पादक मानो ललकार कर

साहित्य-क्षेत्र में उतरते थे और अपने काम में प्राणों की बाजी लगा देते थे। राधाचरण गोस्वामी प्रतापनारायण से अधिक सारगर्भित हास्य लिखते थे। वैसे भी यह अधिक उदार विचारों के थे। 'अकलचन्द्र आख्यान' (३—६) में उस समय के (और अब के भी) निकम्मे नवयुवकों का सुन्दर चित्र खींचा गया है। कविता में देश का ही राग था—

'भारत पर दुख की घोर घटा।
बरसत नयननीर निसिबासर बल धन सकल पटा।
गरजत-तरजत दुष्ट पुष्ट रिपुगन की चिच्छु छटा।
अम्बर भूमि अधिक अँधियारी लखि-लखि हृदय फटा।' इत्यादि।

हिन्दी का कट्टर समर्थक होते हुए भी व्यर्थ में उसे क्लिष्ट बनाने वालों की इस पत्र ने आलोचना की थी। स्वामी दयानन्द और आर्य समाज को लेकर उस समय बड़ा वितण्डावाद और गाली-गलौज हुआ था। राधाचरण गोस्वामी स्वयं विरोधियों में थे परन्तु उनकी नीति अत्यन्त उदार थी। अपने मतभेद का उल्लेख करते हुए उन्होंने लिखा था—'स्वामीजी के देशोपकारी होने में जो कोई सन्देह करे, वह नारकी है और आर्यसमाज के देशोन्नति करने में किसी को भ्रम हो तो वह साक्षात् पशु है।' यमलोक की यात्रा में राधाचरण गोस्वामी ने आर्य-समाजियों को भी नरक में स्थान दिया था; उस बात को याद रखने से ऊपर के वाक्य की उदारता का ठीक ठीक पता चलता है। इसका कारण उन्होंने लिखा था—'अब यह समय नहीं है कि घर में जूता चले और बाहर के तमाशा देखें।' एकता और देशहित के लिए वह अपने व्यक्तिगत विचारों को दबाकर एक सीमा के भीतर रख सकते थे। हास्यपूर्ण लेखों के साथ इसमें नाटक, उपन्यास, पुस्तकों की आलोचनाएँ आदि भी छपा करती थीं। "आनन्दकादम्बिनी" एक कविता प्रधान पत्रिका थी परन्तु इसमें जोरों से स्वदेशी का प्रचार किया जाता था। किसान कष्ट से अन्न पैदा करते हैं परन्तु उसे खाते हैं दूसरे द्वीप के लोग। उसे बेचकर किसान सीप के बटन और मिट्टी के खिलौने

जैसी चीजें पाते हैं। रुपया रहा तब तक नशा रहा; जब न रहा तब "लोग ताशा सा पेट बजाते भूख-भूख चिल्ला रहे हैं !"

ऊपर के विवेचन से भारतेन्दु-युग के पत्र-साहित्य की मनोरंजकता और प्रगतिशीलता का थोड़ा बहुत अन्दाज़ हो जायगा। राजनीतिक वातावरण में जो रूढ़िप्रियता, अन्धपरम्परा-प्रियता, शासकों की खुशामद और अपनी सभ्यता के प्रति हीन भावना फैली हुई थी, उसे देखते हुए हिन्दी पत्रकारों की निर्भीक लेखन-शैली और भी चमक उठती है। उनमें पर्याप्त साहस था और उस साहस का उपयोग वे बेपर की बातें करने में न करते थे वरन् वे दिन-प्रति-दिन का देश तथा विदेश सम्बन्धी समस्याओं के विवेचन में उसका उपयोग करते थे। काबुल युद्ध, जुलू और अँग्रेज़ों की लड़ाई आदि पर जो कुछ तब लिखा गया था, उससे और साफ़-सुथरा कुछ लिखना आज के लेखक के लिए भी कठिन है। सबसे बड़ी बात उनकी सरल भाषा और मनोरंजक शैली है। वे जनता के हित का नारा बुलन्द न करके वास्तविक जन-साहित्य की सृष्टि करने में लगे थे। अकाल, महामारी, टैक्स, किसानों की निर्धनता, स्वदेशी आदि पर उन्होंने सीधे सरल ढंग से निबन्ध और कविताएँ लिखीं। कविता उतनी उच्च कोटि की नहीं हो पाई परन्तु उनके निबन्ध साहित्य की अमर सम्पत्ति हैं। सामयिकता को उन्होंने ऐसा मनोरंजक बना दिया है कि प्रत्येक सचेत और प्रगतिशील युग उसकी ओर सहानुभूति से देखेगा।

आज हमारी समस्याएँ अधिक पेचीदा हैं; सामाजिक परिस्थिति उतनी सोधी नहीं है जितनी उस "विक्टोरियन" युग में। परन्तु इङ्गलैंड के विक्टोरियन-युग की आत्मतुष्टि, उसकी समझौते की मनोवृत्ति, रूढ़िप्रियता, मानसिक गुलामी आदि बातों का भारतेन्दु-युग में अभाव है। जनता में जागृति फैलाने का प्रधान साधन पत्र थे। पत्र-साहित्य में उस समय की उग्र राजनीतिक चेतना भली भाँति प्रकट हुई है। भाषा और शैली में तब के पत्रकारों ने जो आदर्श अपने सामने रखा, वह हमारे लिए आज भी अनुकरणीय है। हमारी समस्याएँ पेचीदा अवश्य हैं परन्तु

उन्हें नीरस शैली में और भी पेचीदा बना देना बुद्धिमानी नहीं है। राजनीतिक, साहित्यिक, सामाजिक और आर्थिक समस्याओं पर गम्भीर लेखों का उस पत्र-साहित्य में अभाव-सा है। परन्तु ऐसे गम्भीर लेख आज भी साधारण जनता के लिए नहीं लिखे जाते। जो कुछ साधारण जनता के लिए ही लिखा जाय, उसके लिये भारतेन्दु-युग में हमें बहुत अच्छे आदर्श मिल सकते हैं। हमें अपने पत्रों में अधिक प्रचारात्मक साहित्य चाहिये; विश्लेषण विवेचन थोड़ा कम हो जाय तो बुरा नहीं। बिना इसके हमारा गहन विश्लेषण जनता से बहुत दूर पड़ जायगा। विश्लेषण से जिन परिणामों तक हम पहुँचते हैं, उन्हें लोकप्रिय बनाने के लिए प्रचारात्मक साहित्य की आवश्यकता होती है। उसी के लिए आज के लेखकों को भारतेन्दु-युग के पत्र-साहित्य से विमुख न होना चाहिये। उसमें उनके सीखने और समझने के लिए बहुत कुछ है।

सभा-समिति और व्याख्यान

भारतेन्दु-युग राजनीतिक, सामाजिक तथा भाषा सम्बन्धी आन्दोलनों का युग था। इन आन्दोलनों की छाप उस युग के साहित्य पर है और पत्रिकाओं में उसकी झलक हम देख चुके हैं। इन आन्दोलनों के नेता पत्रिकाओं और पुस्तकों से ही सन्तोष करने वाले जीव न थे; नाटक, सभा, व्याख्यान, जो भी साधन मिलता, उसे काम में लाने में वे न हिचकते थे। नाटकों से भी एक सीधा ढंग जनता के सम्पर्क में आने का व्याख्यानों का है। इस युग में सभाओं और व्याख्यानों की धूम थी। कुछ लोग तो मेरठ के पं० गौरीदत्त की भाँति नागरी का झंडा लिये ही घूमते थे और नागरी प्रचार को उन्होंने अपने जीवन का ध्येय बना लिया था। हिन्दी-प्रचार के सम्बन्ध में पं० गौरीदत्त का त्याग स्मरणीय है। उन्होंने अपनी सारी सम्पत्ति हिन्दी को अर्पित करके सन्यास ले लिया था और मेले-ठेले जहाँ भी जनता का जमाव होता, अपना सन्देश लोगों तक पहुँचाते थे। कचहरियों में हिन्दी-प्रवेश के लिए न जाने कितने

आवेदन पत्र दिये गये और इनमें हस्ताक्षर आदि कराने के लिये न जाने कितने व्याख्यान दिये गये और सभाएँ की गईं। उस समय जितनी सभाएँ स्थापित हुईं, उन सब का वृत्तान्त नहीं मिलता; बहुतों का तो बस कहीं कहीं नाम ही देखने को मिल जाता है। इसका कारण यह है कि ये सभाएँ अधिकतर स्थानीय थीं और उनके पीछे नागरी प्रचारिणी सभा के से संगठन का अभाव था। इन सभाओं ने हिन्दी भाषा और साहित्य के प्रचार में कितना महत्वपूर्ण कार्य किया, यह जानना कठिन है। फिर भी देश के दूर बिखरे हुए नगरों में उन्होंने हिन्दी को लोकप्रिय बनाने में हाथ बँटाया, इसमें सन्देह नहीं। उस युग के बड़े बड़े साहित्यिक इन सभाओं को स्थापित करने वालों में थे, और वे उनमें भाग लेते थे। सं० १६३२ में राधाचरण गोस्वामी ने "कवि-कुल-कौमुदी" सभा स्थापित की थी। अनेक सभाएँ आर्य-समाज की थीं जो हिन्दी-प्रचार में सक्रिय सहयोग देती थीं। कुछ इसी प्रकार की सनातन धर्म तथा जातियों से सम्बन्ध रखने वाली सभाएँ थीं। अधिकतर सभाएँ हिन्दी प्रचार के लिए बनी थीं। सन् १८८४ ई० में प्रयाग मे "हिन्दी उद्धारिणी प्रतिनिधि मध्यसभा" स्थापित हुई जिसने दो वर्ष तक कार्य किया। इसी के अंतर्गत सम्पादक-समाज भी बना जो दो वर्ष तक चालू रहा। इसके पहले यहाँ एक "हिन्दी-वर्द्धिनी सभा" ने भी काम किया था। जिसमें भारतेन्दु ने हिन्दी पर अपना प्रसिद्ध व्याख्यान पढ़ा था। सन् १८७० ई० में भारतेन्दु ने "कविता-वर्द्धिनी" सभा स्थापित की थी जो उनके घर पर या रामकटोरा बाग में होती थी। इसमें अनेक पुराने कवि भाग लेते थे जैसे सरदार, सेवक, दीनदयाल गिरि आदि। सुन्दर समस्यापूर्तियों पर इसमें पारितोषिक या प्रशंसापत्र दिये जाते थे। १८७३ ई० में पेनीरेडिंग क्लब की स्थापना हुई जिसमें भारतेन्दु ने अपने बहुत से लेख पढ़े। इसमें कभी कभी यह अभिनय भी करते थे। इसी वर्ष भारतेन्दु ने "तदीय समाज" एक धार्मिक संस्था बनाई जिसका सम्बन्ध स्वदेशी आन्दोलन से भी हो गया। "उस समाज के बहुत से लोगों से यह भी प्रतिज्ञा

कराई थी कि यथासम्भव देशीय पदार्थों का व्यवहार करेंगे। हरिश्चन्द्र आप भी यथासाध्य इस नियम का पालन सदैव करते रहे।"* काशी की अन्य सभाओं जैसे अनाथ-रक्षिणी सभा, यङ्गमेन्स एसोसियेशन, ब्रह्मामृतवर्षिणी आदि से भी भारतेन्दु का सहयोग था। काशी के सुधाकर द्विवेदी ने विज्ञान-प्रचारिणी-सभा तथा तुलसी-स्मारक सभाएँ स्थापित की थीं। कार्तिकप्रसाद खत्री ने सुदूर शिलांग में मित्रसमाज की स्थापना की थी। यद्यपि इस सभा के पास विशेष धन न था परन्तु उसका उत्साह किसी से कम न था। "हिन्दुस्तान" पत्र के सम्पादक-संचालक राजा रामपालसिंह को इस सभा ने एक रौप्य पदक देना निश्चय किया और स्वयं कार्तिकप्रसाद खत्री उसे देने के लिये भेजे गये। अलीगढ़ में तोताराम ने भाषासंवर्द्धिनी सभा खोली थी। पटना में कविसमाज तथा राँची में मातृभाषा-प्रचारिणी-सभा नाम की दो संस्थाएँ बनी थीं। काशी-नागरी-प्रचारिणी-सभा के संस्थापकों में कार्तिकप्रसाद खत्री, रामकृष्ण वर्मा, गदाधरसिंह आदि अनेक भारतेन्दु के समसामयिक लेखक थे। इसके खुलने पर इसकी अनेक शाखाएँ विभिन्न नगरों में स्थापित हो गई।

उस समय के हिन्दी लेखकों में जो प्रसिद्ध वक्ता हुए उनमें श्रीमदनमोहन मालवीय मुख्य हैं। मालवीयजी की भारतवर्ष के ही नहीं, संसार के महत्तम वक्ताओं में गणना है। उनकी यह प्रतिभा अपनी भाषा के साथ अँग्रेजी में भी चमकी। वह हमारे युग के साथ इतना अधिक है कि हम भारतेन्दु युग के साथ उनके सम्बन्ध को भूल सा जाते हैं। अनेक वक्ता आर्यसमाज से हिन्दी में आये, जिनमें श्रद्धाराम फुल्लौरी मुख्य हैं। वह एक स्वतन्त्र विचारक और हिन्दी के सुलेखक थे। उस समय के सामाजिक आन्दोलन और व्याख्यानों की एक झाँकी हमें सुधाकर द्विवेदी के जीवनचरित्र में पढ़ने को मिलती है। × द्विवेदीजी

* शिवनन्दन सहाय—हरिश्चन्द्र पृष्ठ ८७।

× सुधाकर चरित्र—ले० लक्ष्मीनारायण त्रिपाठी। भारतजीवन प्रेस। सन् १९११ ई०

का जन्म एक निर्धन और पुरान-पंथी ब्राह्मण परिवार में हुआ था। आठ वर्ष तक इन्हें अक्षरज्ञान भी न कराया गया था; १४ वर्ष में विवाह भी हो गया। परन्तु उनकी प्रतिभा बड़ी तीक्ष्ण थी। वह महा-महोपाध्याय, गवर्नमेन्ट संस्कृत कालेज बनारस के गणित के अध्यापक, प्रधान अध्यापक, म्यूनिसिपल कमिश्नर आदि हुए। कुल मिलाकर इन्होंने ४५ के लगभग ग्रन्थ लिखे और बुद्ध का अनुवाद किया। इन्होंने एक गणित का इतिहास भी लिखा था जिसमें भिन्न भिन्न देशों में पाटी-गणित (arithmetic) के ऐतिहासिक विकास का विवेचन है और अन्त में देश और विदेश के प्रसिद्ध ६२ गणितज्ञों के संक्षिप्त जीवन-चरित्र दिये गये हैं।* इनकी पुस्तकें पढ़ने से गणित में पारिभाषिक शब्दों की समस्या सरलता से सुलझाई जा सकती है। उनकी रचनाओं से यह भी मालूम होगा कि हिन्दी लेखक इस ओर कब से सतर्क हो गये थे। सुधाकर द्विवेदी ने ही "विज्ञान-प्रचारिणी सभा" स्थापित की थी। संस्कृत और गणित के प्रकाण्ड पण्डित होते हुए भी उन्हें अपनी भाषा हिन्दी से अगाध प्रेम था। वह संस्कृत में ग्रन्थ रचने के साथ हिन्दी में भी लिखा करते थे। हिन्दी के लिये उनकी शुभ कामना उनकी जीवनी में इन शब्दों में दी हुई है—"मुझे और मेरे मित्रों को ईश्वर ऐसा सम्पन्न करे जिससे हम लोग स्वतन्त्र होकर हिन्दी भाषा की उन्नति करें और इसका भण्डार सब विषयों से भर दें।"

भारतेन्दु के समय विलायत जाने वालों को लेकर एक प्रबल आन्दोलन चल रहा था। समाज के कट्टरपन्थी नेता उन्हें जाति में लेना अस्वीकार करते थे। भारतेन्दु बाबू की रचनाओं में इस आन्दोलन की प्रतिक्रिया पायी जाती है। वह इस आन्दोलन के विरोधी थे और विलायत से लौटने वालों को जाति में लेने के पक्ष में तो थे ही, वह विलायत जाकर नई नई बातें सीखने के लिये सक्रिय आन्दोलन भी करते थे। भारतेन्दु बाबू के निधन के पश्चात् सुधाकर द्विवेदी इस आन्दो-

* गणित का इतिहास—ले० सुधाकर द्विवेदी। पहला भाग, पृ० संख्या २०७। मू० २)

लन में भाग लेते रहे। जिस व्याख्यान का यहाँ उल्लेख होगा वह तारीख को देखते हुए भारतेन्दु युग की सीमा पर या उसके बाहर पड़ता है परन्तु उसकी मनोवृत्ति भारतेन्दु-युग की ही है और वक्ता स्वयं उस युग के प्रतिनिधि थे। बनारस के टाउनहॉल में विलायत से लौटे हुए लोगों को जाति में लेने के लिये एक सभा ३० अगस्त १६१० ई० को हुई थी। वृद्ध पं० सुधाकर द्विवेदी इसके सभापति थे। आयु के साथ उनके विचारों में अधिक उदारता हो आई थी; प्रतिक्रियात्मक वह तनिक भी न थे। आरम्भ में ही जब उन्होंने कहा—"समयानुकूल धर्मशास्त्र की व्यवस्थाएँ पलटा करती हैं," तब कट्टर पन्थियों के हृदय पर वज्र सा गिरा होगा। धर्मशास्त्र को छोड़ कर परम्परा का उदाहरण देते हुए कहा—"प्राचीन समय से विदेश यात्रा की प्रथा आती है। जब राजा लोग राजसूय यज्ञ करते थे तब दिग्विजय के हेतु सभी देशों में जाना पड़ता था, क्या वे अयोध्या का जल साथ ले जाया करते थे?" विदेश-यात्रा ही नहीं, विदेश की कुमारियों से विवाह का उल्लेख भी उन्होंने किया—"कहने की आवश्यकता नहीं, भारतीय महाराज विदेशों में जाकर लड़कियाँ व्याह लाते थे।" जो लोग काँच के ग्लास में पानी पीना अधर्म समझते थे, उनको लक्ष्य करके उन्होंने कहा कि स्त्रियाँ काँच की चूड़ियाँ पहन कर भोजन बनाती हैं तो रोटियाँ अशुद्ध क्यों नहीं होतीं। खानपान में जाति भेद की खिल्ली उड़ाते हुए उन्होंने कहा—"अंगूर काबुल से आते हैं, कौन नहीं खाता? यदि एक चमार ला देवे या छू देवे तो अपवित्र हो जाता है किन्तु जहाँ से आया, वहाँ कौन छूता है, इसका विचार नहीं।" फिर राजा महाराजा अब भी विदेश घूम आते हैं, उन्हें कोई जाति बाहर नहीं करता। "क्या बड़ों के लिये और धर्म होता है और छोटों के लिये और?" भोजन और धर्मशास्त्र को अलग करते हुए उन्होंने कहा—"भोजन का शास्त्र से कुछ सम्बन्ध नहीं है, केवल अभक्ष्य छोड़ा गया है।" इससे आगे बढ़ कर सहभोज का महत्त्व बताते हुए उन्होंने कहा—"इकट्ठे बैठ कर खाना लाभदायक है, हाँ एक थाली में न खाना चाहिये।"

जाति-प्रथा के सम्बन्ध में उनके विचारों पर आज के पाठकों को ध्यान देना चाहिए। "जन्म से वर्ण नहीं होता। 'जन्मना जायते शूद्रः' मैं यह व्यवस्था मानता हूँ। मैं ब्राह्मण उसी को कहूँगा जो लँगोटी बाँध कर और तपस्या करके विद्या ग्रहण करे।" इसके उपरान्त उन्होंने उन ऋषियों और विद्वानों का उल्लेख किया जो जन्म से शूद्र थे परन्तु अपने तप और विद्या के बल से वन्दनीय हुए। आज भी "जो कौशल सीखकर आवें उन्हें देवता और ऋषि मैं कहूँगा।" विदेश जानेवालों को जाति में लेने की बात तो दूर, सुधाकर द्विवेदी ने घोषित किया कि जो देशहित के लिये विदेश से विद्या सीखकर आये उसका ऋषि के समान आदर होना चाहिए। विदेश-यात्रा सम्बन्धी अपनी ही कामनाओं का उल्लेख करते हुए उन्होंने कहा—"मैं तो युवावस्था से ही विचार करता था कि ग्रीनिच की ऑब्ज़र्वेटरी में जाकर नक्षत्रमण्डल अपनी आँखों से देखूँ। संस्कृत के गणितशास्त्र में Applied Mathematics नहीं है। मेरा लड़का गणितशास्त्र में मुझसे भी अधिक प्रवीण है क्योंकि उसने Applied Mathematics की शिक्षा प्राप्त की है। सामर्थ्य न होने से मैं उसे भी वहाँ न भेज सका।" आज भी संस्कृत के बहुत कम ऐसे पण्डित होंगे जो विचारों में इतने उदार हों; तब तो यह उदारता और भी दुर्लभ थी। सुधाकर द्विवेदी की निर्भीकता, प्रायः उद्दण्डता, उस युग की विशेषता है। उसका एक और प्रखर रूप हमें राधाचरण गोस्वामी में देखने को मिलेगा। सुधाकर द्विवेदी जानते थे, उनके विचारों का समाज में कैसा स्वागत होगा। इसी को लक्ष्य करके उन्होंने अन्त में कहा था—"मैं जो कुछ कह रहा हूँ उसे सुन के पुराने लोग मुझे गालियाँ देंगे, मैं गालियाँ सुनता हूँ और सुनने को प्रस्तुत हूँ। कई त्रुटियाँ मुझमें भी हैं। चोर भी यदि अच्छी बात कहे तो मान लेनी चाहिये क्योंकि उत्तम शिक्षा पर जो चलेगा अवश्यमेव लाभ उठावेगा।"

अपनी निर्भीकता, उदारता और समाज-हितकामना में यह व्याख्यान युगभावना का सूचक है। साथ ही विषय प्रतिपादन की शैली

आकर्षक और सरल है। व्याख्यान में भावों और विचारों को जिस ढंग से सजाया गया है, उससे एक सिद्ध वक्ता की कुशलता प्रकट होती है। अवश्य ही, सुधाकर द्विवेदी का यह इस ढंग का अकेला व्याख्यान न रहा होगा; न भारतेन्दु युग में ऐसे भाषणों की कमी रही होगी

भारतवर्ष की श्रेष्ठ वक्तृताओं में गिने जाने योग्य भारतेन्दु का वह व्याख्यान है, जो उन्होंने वलिया की सभा में दिया था। वलिया में ददरी का मेला होता था; वहाँ पर भारतेन्दु के "सत्य हरिश्चन्द्र" और "नीलदेवी" नाटक खेले गये जिनकी सभी ने प्रशंसा की। नाटक के प्रवन्धकर्त्ताओं के आग्रह से भारतेन्दु बाबू भी वहाँ गये थे। वहाँ उनके सम्मानार्थ एक सभा की गई जिसमें अँग्रेज अफसर भी सम्मिलित हुए। वहाँ भारतेन्दु बाबू ने स्वदेश पर एक बहुत ही सुन्दर व्याख्यान दिया। इसकी भाषा बहुत ही सरल है; बीच बीच में व्याख्यान को रोचक बनाने के लिये इतिहास की कथाएँ, चुटकुले आदि भी दे दिये गये हैं। "चारों ओर दरिद्रता की आग लगी है," उनके इस एक वाक्य से उस व्याख्यान की ध्वनि समझी जा सकती है। उग्र रोष से उन्होंने कुछ ऐसे शब्द कहे थे जो उनके व्यक्तित्व को ठीक ठीक प्रकट करते हैं और जो हिन्दी पाठकों के लिये चिरस्मरणीय हैं। उन्होंने कहा था—"अपनी खराबियों के मूल कारणों को खोजो। कोई धर्म की आड़ में, कोई देश की चाल की आड़ में, कोई सुख की आड़ में छिपे हैं। उन चोरों को वहाँ वहाँ से पकड़ पकड़ कर लाओ। उनको बाँध बाँध कर क़ैद करो। हम इससे बढ़कर क्या कहें कि जैसे तुम्हारे घर में कोई पुरुष व्यभिचार करने आवे तो जिस क्रोध से उसको पकड़ कर मारोगे और जहाँ तक तुम्हारे में शक्ति होगी, उसका सत्यानाश करोगे, उसी तरह इस समय जो जो बातें तुम्हारे उन्नति-पथ की काँटा हों, उनकी जड़ खोदकर फेंक दो। कुछ मत डरो। जब तक सौ दो सौ मनुष्य बदनाम न होंगे, जाति से बाहर न निकाल दिये जायँगे, दरिद्र न हो जायँगे, क़ैद न होंगे, वरंच जान से न मारे जायँगे तब तक कोई देश भी न सुधरेगा।" अपनी मृत्यु से एक वर्ष पूर्व भारतेन्दु ने ये

शब्द कहे थे। अपने छोटे से जीवन में यहाँ कही हुई बातों में से कुछ उन्होंने स्वयं अनुभव भी किया था। मेवाड़ यात्रा से लौटने पर वह अस्वस्थ रहने लगे थे परन्तु उनके हृदय की अग्नि जैसे और प्रचण्ड हो गई थी। देश में राजनीतिक आन्दोलन आरम्भ होने के पूर्व इस प्रतिभाशाली पुरुष ने त्याग और बलिदान के लिये यह माँग की थी। अपनी कही बातों के अनुसार उसने स्वयं आचरण किया था, इसीलिये वह एक युग का निर्माण कर सका और उस युग पर अपनी अमिट छाप छोड़ गया। शब्द कितने सीधे हैं परन्तु उनमें कितनी दृढ़ता है। वे एक प्रतिज्ञा के शब्दों के समान तेजस्वी हैं; वही तेज वृद्ध सुधाकर द्विवेदी के हृदय में उत्साह जिलाये हुए था।

भारतेन्दु ने आवेश में आकर कुछ उग्र शब्द ही न कह दिये थे; उनके व्याख्यान में राजनीतिक विचारों की एक प्रौढ़ता झलकती है जो सन् १८८४ ई० के लिये अनोखी है। हिन्दू-मुस्लिम एकता के लिये उन्होंने सबसे पहले अपील की थी। "घर में आग लगे तब जिठानी दौरानी को आपस की डाह छोड़कर एक साथ वह आग बुझानी चाहिए।" भारतेन्दु स्वयं आर्यवीरता के गीत गाने वालों में थे; परन्तु उन्होंने हिन्दुओं से हिन्दू शब्द को अधिक व्यापक बनाने की प्रार्थना करते हुए कहा—"इस महामन्त्र का जप करो, जो हिन्दुस्तान में रहे चाहे किसी रंग किसी जाति का क्यों न हो वह हिन्दू है। हिन्दू की सहायता करो। बंगाली, मराठा, पंजाबी, मदरासी, वैदिक, जैन, ब्राह्मो, मुसलमान सब एक का हाथ एक पकड़ो।" भारतेन्दु ने जिस राष्ट्र की कल्पना की थी, वह इन शब्दों में प्रकट हो जाता है। उनके देश में सभी धर्मों तथा मतमतान्तरों के लिये स्थान था। जो लोग भारतेन्दु-युग के जागरण को हिन्दू-पुनरुत्थान कह कर टाल देते हैं, वे इन शब्दों पर भी ध्यान दें। उस उत्थान में बहुत सी भावधाराएँ एक साथ प्रवाहित हो रही थीं परन्तु युग के नेता अपना ठीक प्रकाश-पथ देख रहे थे या नहीं, यह इस व्याख्यान से मालूम पड़ जायगा।

भारतेन्दु के राजनीतिक विचारों की प्रौढ़ता राष्ट्र को इस उदार

कल्पना से समाप्त नहीं होती। बंगभंग से बहुत पहले, काँग्रेस के स्वदेशी आन्दोलन से भी पहले, भारतेन्दु ने अपने व्याख्यानों तथा साहित्यिक रचनाओं द्वारा हिन्दुस्तान में स्वदेशी आन्दोलन का सूत्रपात किया था। प्रतापनारायण मिश्र, राधाचरण गोस्वामी, बालकृष्ण भट्ट आदि लेखकों को हम उनकी रचनाओं में स्वदेशी के लिये आन्दोलन करते हुए पाते हैं। इस आन्दोलन का नेतृत्व अपने जीवन काल में भारतेन्दु ने किया था। स्वदेशी का महत्व उन्होंने इस सरल और मनोरंजक शैली में समझाया था:—"जैसे हजार धारा होकर गंगा समुद्र में मिली है, वैसे ही तुम्हारी लक्ष्मी हजार तरह से इङ्गलैंड, जर्मनी, अमेरिका को जाती है। दियासलाई ऐसी तुच्छ वस्तु भी वहीं से आती है। जरा, अपने ही को देखो। तुम जिस मारकीन की धोती पहने हो, वह अमेरिका की बनी है। जिस लंकलाट का तुम्हारा अंगा है, वह इङ्गलैंड का है। फराँसीस की बनी कंघी से तुम सिर झारते हो और जर्मनी की बनी चरबी की बत्ती तुम्हारे सामने बल रही है।" भारतेन्दु अपने व्याख्यानों में मनोरंजक चुटकले किस प्रकार सजाते थे, इसका उदाहरण आगे ही है। "यह तो वही मसल हुई कि एक बेफिकरे मँगनी का कपड़ा पहिन कर किसी महफिल में गये। कपड़े को पहिचान कर एक ने कहा, अजी यह अंगा तो फलाने का है। दूसरा बोला, अजी टोपी भी फलाने की है तो उन्होंने हँसकर जवाब दिया कि घर की तो मूँछे ही मूँछे हैं। हाय अफसोस तुम ऐसे हो गये कि अपने निज के काम की वस्तु भी नहीं बना सकते।" अन्त में उन्होंने स्वदेशी और हिन्दी के उल्लेख से अपना भाषण समाप्त किया। "जिसमें तुम्हारी भलाई हो वैसी ही किताब पढ़ो, वैसे ही खेल खेलो, वैसी ही बातचीत करो, परदेशी वस्तु और परदेशी भाषा का भरोसा मत रक्खो। अपने देश में अपनी भाषा में उन्नति करो।"

यदि उस युग के और भाषण एक बड़ी संख्या में हमें प्राप्त होते, तो भी उनमें इससे बढ़कर भाषण मिलना कठिन होता। अँग्रेज कर्मचारियों की उपस्थिति की चिन्ता न करते हुए, उन्होंने देश-दशा का सच्चा चित्र

जनता के सामने खींचा। यह निर्भीकता सराहनीय है, परन्तु उनकी उदारता, एक सम्मिलित राष्ट्र की कल्पना, उससे भी बढ़कर है। स्वदेशी के सम्बन्ध में उन्होंने जो कुछ कहा, उससे उनकी दूरदर्शिता और गम्भीर चिन्तन प्रकट है। "तदीय समाज" के सदस्यों के लिए उन्होंने स्वदेशी वस्तुओं का व्यवहार आवश्यक कर दिया था, यह हम देख चुके हैं। व्याख्यान की शैली बताती है कि भारतेन्दु जनता को अपनी बात समझाने में अत्यन्त कुशल थे। मनोरंजन के साथ चेतावनी और विचारोत्तेजना बहुत कम व्याख्यानों में मिलती है। इस व्याख्यान की सर्वोपरि महत्ता यह है कि उसमें हमें उस स्फूर्ति, उस प्राणशक्ति का परिचय मिलता है, जो युग की विधायक थी। भारतेन्दु ने अपने युग को बलिदान के लिए एक चुनौती दी थी; साथ ही अपने युग की संघर्ष-कथा को अप्रकट रूप से उसमें व्यञ्जित भी कर दिया था। उनकी चुनौती वास्तव में भावी युगों के लिए थी जो कुछ तो पूरी हो चुकी है और शेष अगली पीढ़ियों द्वारा पूरी होगी। स्वयं तो वह प्रतिज्ञा करने के पूर्व अनेक अंशों में उसकी पूर्ति कर चुके थे। इसीलिए वे सीधे वाक्य उनके मुँह से इतने सुन्दर और सजीव लगते हैं।

नाटककार—काशिनाथ और हरिश्चन्द्र

बलिया के मेले में भारतेन्दु के व्याख्यान के पहले वहाँ उनके दो नाटक खेले गये थे। मेलों ठेलों में नाटक खेलना आज की सभ्यता को अखरता है, परन्तु उस समय नाटक जब प्रधानतः जनता तक अपना सन्देश पहुँचाने का एक साधन था, ऐसे स्थान नाटक खेलने के लिये उचित समझे जाते थे जहाँ काफी भीड़ मिल सके। नाटक खेलने के लिए विशेष संस्थाएँ भी स्थापित हुई थीं, वैसे तो साहित्य और भाषा सम्बन्धी सभाओं का इस ओर उत्साह स्वाभाविक था। हिन्दी में नाटकों की परम्परा प्रायः थी ही नहीं, विशेषकर उन नाटकों की जो जनता के बीच खेले जाने के लिये लिखे गये हों। भारतेन्दु ने नाटक लिखने की ही परम्परा को जन्म नहीं दिया, उन्होंने नाटक खेलने की परिपाटी भी आरम्भ की और स्वयं अभिनय करके लोगों के सामने एक आदर्श स्थापित किया। भारतेन्दु के निधन के चार वर्ष बाद प्रतापनारायण मिश्र ने "ब्राह्मण" में लिखा था कि बारह वर्ष पहले कानपुर में लोग नाटक का नाम भी न जानते थे। यहाँ पर सबसे पहले रामनारायण त्रिपाठी के उद्योग से भारतेन्दु के दो नाटक "सत्य हरिश्चन्द्र" और "वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति" खेले गये थे। तब नाटक खेलने का विरोध हुआ था और विरो-

यियों में प्रतापनारायण मिश्र जैसे लोग भी थे। इसी से समझा जा सकता है कि भारतेन्दु को नाटकों की परम्परा चलाने में किन बाधाओं का सामना करना पड़ा होगा। वे बाधाएँ सामने न टिक सकीं, यह तो इसी से सिद्ध है कि प्रतापनारायण मिश्र जो कभी विरोधी थे, स्वयं एक कुशल नाटककार और अभिनेता बन गये। दामोदर शास्त्री सप्रे ने बिहार में एक नाटक मण्डली स्थापित की, जिसमें 'बिहार-बंधु' नामक पत्र का परिवार सम्मिलित था। इन्हीं ने भारतेन्दु की सम्मति से काशी में भी एक नाटक मण्डली खोली थी।

बहुत से नाटक उस समय के मासिक, साप्ताहिक आदि पत्रों में छपे थे; अनेक धारावाहिक रूप में छपते छपते अधूरे भी रह गये। नाटक-परम्परा का प्रभाव युग की रचनाओं पर विशेष दिखाई देता है। निबन्धों में पाठक से वार्तालाप सा है; प्रत्यक्ष वार्तालाप के रूप में भी बहुत से लेख लिखे गये थे। "हरिश्चन्द्र मैगज़ीन" में "यूरोपीय के प्रति भारत-वर्षीय के प्रश्न" इस प्रकार की रचनाओं का एक उदाहरण है। इसी पत्रिका में तोताराम का 'कीर्तिकेतु' तथा श्री निवासदास का 'तप्तासंवरण' नाटक प्रकाशित हुए थे। कार्तिकप्रसाद खत्री ने "रेल का विकट खेल" इसमें अधूरा ही लिख पाया। पहले अंक में रेलवे स्टेशन का एक दृश्य है। एक सांवे गाँव के यात्री को पुलिस वाले से लेकर कुली तक सभी ठगते हैं। यात्री की बातचीत अपने अपने ढंग की है; पंजाबी साहब यात्री को डाटते हैं—"किध जायगा, गाड़ी खुलने चाहता है" और स्वयं यात्री महोदय बंगाली टिकट बाबू से कहते हैं—"का टिकट सोना का है जो साढ़े सात रुपैया दाम लागो।" इस एक अंक से ही कार्तिकप्रसाद खत्री की नाटक रचना में कुशलता प्रकट होती है; खेद है कि उन्होंने नाटक लिखने की अपेक्षा भाषा सम्बन्धी प्रचार में ही अधिक समय लगा दिया।

मनोरंजक संवाद पत्रिकाओं में खूब छपते थे और इनमें "हरिश्चन्द्र मैगज़ीन" में छपे 'बसन्त पूजा' का पहले उल्लेख हो चुका है। उस समय के अनेक नाटक-लेखक अपनी रचनाओं में किसी का अनुकरण न करके

कभी कभी अपनी मौलिकता पर अत्यधिक भरोसा कर बैठते थे। काशिनाथ के नाटक रेडियो से फीचर प्रोग्रामों के अधिक निकट हैं, रंगमंच के अयोग्य से हैं। वह संवाद से साथ कुछ घटनाओं का वर्णन स्वयं भी कर देते हैं जैसे "हरिश्चन्द्र मैगजीन" में छपे "ग्राम-पाठशाला" नाटक में संवाद के बाद "इसी प्रकार रोते पीटते दो ढाई महीने बीत गये" इत्यादि। यह शायद नौटंकी का प्रभाव था। इस दोष के होते हुए भी उनके नाटक बहुत मनोरंजक हैं। उनमें देश-दशा का सूक्ष्म दर्शन और यथार्थ ढंग से उसका वर्णन भी है। ग्राम-पाठशाला नाटक में किसानों के लड़के अपने काम में इतना लगे रहते हैं कि पोथी पढ़ने की उन्हें सुविधा कम मिल पाती है। इसी समस्या के विभिन्न पहलुओं पर इस नाटक में प्रकाश डाला गया है। ५) पर एक आदमी वहाँ पढ़ाने जाता है; पाजामा उधार माँगकर पहन जाता है। उसे तहसीलदार का आदमी समझकर बनिया अनाज की डलिया ढँक लेता है। अपने ५) सार्थक करने के लिये मास्टर को लड़के पकड़ने दौड़ना पड़ता है। जब डिप्टी साहब मुआयना करने आते हैं तो बड़ी कठिनता से वह १० लड़के इकट्ठा कर पाता है; बनिया से उधार लाकर डिप्टी साहब के भोजन का प्रबन्ध करता है। तिस पर भी डिप्टी साहब असन्तुष्ट होकर उस पर २) जुर्माना कर देते हैं, तरक्की न करने और बरखास्त कर देने की धमकी अलग से देते हैं। जब वह घोड़े पर चढ़कर वहाँ से चलते हैं तो बेचारा मुदर्रिस उनके घोड़े के पीछे जुर्माना माफ कराने को पीछे पीछे दौड़ता चलता है। अन्त में वह यही सोचता है कि इस मुदर्रिसी से तो जुलाहे का ही काम भला था—

"तुनतुनी बजाते मियाँ, खाते शक्कर घी।
इस नौकरी को ऐसी तैसी, अब के बचे जी॥"

इस प्रकार यह छोटा सा नाटक समाप्त होता है।

जिस समस्या पर "ग्राम-पाठशाला" में प्रकाश डाला गया है, वह आज भी कुछ-कुछ उसी रूप में वर्तमान है। बहुत से गाँवों में अब भी लड़के जुटाना मास्टरों के लिये एक समस्या रहती है और मास्टरों का

वेतन बहुधा ऐसा होता है कि वे जुलाहों से ईर्ष्या करें। काशिनाथ को संवाद लिखने में खूब सफलता मिली है; पात्रों के मुँह से दो बातें सुनते ही उनका कल्पना चित्र सामने आ जाता है। जब नाटक पुस्तक-रूप में छपा तो उन्होंने लिखा कि उसमें उन पाठशालाओं का चित्र है जो म्यौर साहब लाट ने बैठवाई थीं और जिनके चले जाने पर सैकड़ों मदरसे उठवा दिये गये थे। "निकृष्ट नौकरी" नाटक में इसी प्रकार कचहरी में काम करने वाले एक बाबू की दुर्दशा का चित्र है। ढंग वही फीचर प्रोग्राम वाला है। काशिनाथ विधवा विवाह के प्रबल समर्थक थे और इस विषय पर उन्होंने ईश्वरचन्द्र विद्यासागर की पुस्तक का हिन्दी में अनुवाद भी किया था। अपने "बालविधवा संताप" नाटक की भूमिका में उन्होंने लिखा था—"न मेरे पास धन है, न बल। केवल हाथ घिस कर अपने भाइयों का इस ओर ध्यान खींचता हूँ और आशा करता हूँ कि कोई ईश्वर का प्यारा ऐसा उत्पन्न होगा जो इस महा-दुखदाई रीति को देश से उठा कर दिखा देगा।" इन शब्दों में उस युग के लेखकों की सचाई और दृढ़ता झलकती है। बहुत नम्र होकर काशिनाथ ने अपने हाथ घिसने का उल्लेख किया है परन्तु इस नम्रता में बड़ी शक्ति है। धन और बल यह सब करके न दिखा सका जो काशिनाथ जैसे लेखकों ने अपनी लेखनी से कर दिखाया।

काशिनाथ की रचनाओं से पता चलता है, युगभावना नाटकों के विकास को किस प्रकार प्रभावित कर रही थी। लेखकों के सामने नाटकों की जो परम्परा थी, वह बँगला, संस्कृत या अंग्रेजी की थी परन्तु इन भाषाओं में वह परिपाटी न थी जिससे युगभावना मेल खाती। अभी तक यथार्थ के इतना समीप होकर किसी ने नाटक न लिखे थे। हिन्दी में इस परम्परा के विकास का कारण परिस्थितियाँ तथा लेखकों की सचाई थी। भारतेन्दु बाबू के नाटकों में यह युग-प्रभाव और भी स्पष्ट है। वह संस्कृत का आदर्श लेकर चले थे और अनेक संस्कृत नाटकों का अनुवाद करके उन्होंने उस रीति में अभ्यास कर लिया था। परन्तु "प्रेमजोगिनी" में सूत्रधार का साथी उससे कहता

है—"हाँ हाँ, वह नाटक खेलो जो तुम उस दिन उद्यान में उनसे सुनते थे। वह उनके और इस घोर काल के बड़ा ही अनुरूप है। उसके खेलने से लोगों को वर्तमान समय का ठीक नमूना दिखाई पड़ेगा और वह नाटक भी नई-पुरानी दोनों रीति मिल के बना है।" "प्रेमजोगिनी" में भारतेन्दु यथार्थ के अधिक समीप आ गये हैं और वह नई-पुरानी रीतियों को मिलाकर एक ऐसी रचना-शैली की खोज में दिखाई देते हैं जो युग के अधिक अनुकूल हो। इसके सिवा उस कथन में और भी महत्व की बातें हैं। नाटक को लेखक और युग दोनों के ही अनुकूल होना चाहिये; जब दोनों मे सामञ्जस्य होता है तभी सुन्दर रचनाएँ हो सकती हैं। युग में बहुत सी बातें होती हैं, कुछ जर्जर ध्वस्त होती हुई, कुछ नये आदर्शों को लेकर जन्म लेती हुई; लेखक को निश्चित करना होता है कि वह अपनी सहानुभूति किनसे स्थापित करे। यदि वह पुरानी रूढ़ियों के मोह में पड़ गया तो प्रतिक्रियावादी बनकर रह जाता है; यदि केवल नवीन आदर्शों को लेकर चला तो परम्परा से विलग हो कर अपनी शक्ति मौलिक प्रयोगों में ही खो देता है। भारतेन्दु ने केवल प्रयोगों के लिये मौलिकता को नहीं अपनाया; न भारतीय संस्कृति के चक्कर में वह कालिदास और भवभूति के आदर्श पकड़े बैठे रहे। परम्परा से नाता न तोड़ते हुए उन्होंने युग की आवश्यकताओं के अनुसार प्रयोग किये और केवल इसी प्रकार परम्परा और प्रयोग के गठबन्धन से महत्तम कृतियाँ सम्भव होती हैं।

भारतेन्दु बाबू के नाटकों में "सत्य हरिश्चन्द्र" खूब लोकप्रिय हुआ। इसका कारण नाटक में अभिनय के योग्य संवाद हैं; भाषा की दृष्टि से भी नाटक अत्यन्त सुघर है। भारतेन्दु ने भूमिका में चंड कौशिक के नाटक का उल्लेख किया है। नाटक का ढाँचा भारतेन्दु का अपना नहीं है परन्तु कविताएँ मौलिक हैं तथा संवाद में भारतेन्दु की अपनी छाप है। एक प्रकार से इस नाटक में करुण रस की अति कर दी गई है; वीभत्स वर्णन में भी संयम का कुछ अभाव है। फिर भी विश्वामित्र और हरिश्चन्द्र का चरित्र-चित्रण सुन्दर हुआ है और उनके संवाद चरित्र के अनुकूल हैं।

हरिश्चन्द्र की दृढ़ता में भारतेन्दु अपने लिये एक आदर्श रच रहे थे; उनकी वेदना को स्मरण करके वह अपने हरिश्चन्द्र नाम के व्यंग्य को समझ रहे थे। राजा हरिश्चन्द्र जहाँ मरघट में निर्जीव कपाल देखकर मानव-जीवन पर विचार करते हैं, वहाँ भारतेन्दु की भाषा सरलता लिये हुए भी सस्तेपन से दूर अपनी व्यंजना में अत्यन्त समर्थ दिखाई देती है। "देखो यही सिर, जिस पर मन्त्र से अभिषेक होता था, कभी नवरत्न का मुकुट रखा जाता था, जिसमें इतना अभिमान था कि इन्द्र को भी तुच्छ गिनता था, और जिसमें बड़े बड़े राज जीतने के मनोरथ भरे थे, आज पिशाचों का गेंद बना है और लोग उसे पैर से छूते में भी घिन करते हैं।" व्यर्थ के वाग्जाल से भारतेन्दु ने प्रभाव उत्पन्न करने की चेष्टा नहीं की; इस प्रकार के कवित्वपूर्ण स्थलों में बहुत कम लेखक ऐसी सरलता निबाह पाते हैं।

"चन्द्रावली" एक काव्य प्रधान नाटिका है। चन्द्रावली का उन्माद, प्रेम-निवेदन आदि रोचकता की सीमा को लाँघ गये हैं और रंगमंच पर इसका सफल होना कठिन है। इसमें कवित्त-सवैया बहुत से अच्छे हैं जिससे पढ़ने में जी नहीं ऊबता। "नीलदेवी" उनका ऐतिहासिक नाटक है परन्तु वह यथार्थ जीवन की ही एक आवश्यकता की पूर्ति के लिये लिखा गया है। भारतेन्दु ने भूमिका में अँग्रेज और हिन्दुस्तानी स्त्रियों की तुलना की है और कहा है कि अँग्रेज स्त्रियों से उनके अवगुण सीखने की आवश्यकता नहीं; उनमें बहुत से गुण हैं जिन्हें सीख लेना चाहिये, जिनसे देश का भला होगा। नीलदेवी नाटक उन्होंने यह दिखाने को लिखा था कि भारतीय स्त्रियों की ऐसी दशा सदा ही नहीं रही। नीलदेवी की निर्भीकता और उसके साहस से भारतीय स्त्रियाँ कुछ सीखें, यही उनका लक्ष्य था। इस नाटक में छोटे-छोटे दस अंक हैं; निर्माण की दृष्टि से यह उनकी रचनाओं में उत्तम है। पीकदानअली और चपरगट्टू की सम्मिलित ग़ज़ल सुन्दर है और पाँचवें अंक के दो गीत 'सोओ सुखनिंदिया प्यारे ललन' और 'प्यारी बिन कटत न कारी रैन' उनके नाटक-गीतों में सबसे मधुर और उपयुक्त हैं।

नाटक द्वारा समाज-सुधार में रुचि भारतेन्दु के "वैदिकी हिंसा" प्रहसन में ही दिखाई देती है। यह उनके प्रारम्भिक नाटकों में है; इसलिये विचारों में उतनी उदारता नहीं आ पाई; न नाटक निर्माण में ही प्रौढ़ता है। पात्रों के अनुसार अभी से भारतेन्दु संवाद की भाषा में हेर फेर करते हैं। कहीं कहीं हास्य का अच्छा पुट है जैसे ब्राह्मण को विदूषक के आशीर्वाद में कि उसके मुँह में हंस सहित सरस्वती वास करें और गले में हंस की पूँछ न अटके। "पी ले अवधू के मतवाले" में चलते गानों का एक आदर्श है। मदिरा-पान पर दोहों में यथेष्ट हास्य है। साथ ही विभिन्न वर्गों के लोग विभिन्न प्रणालियों के अनुसार मदिरा पीते हैं; इसका भी यथार्थ चित्रण है। जैसे कुछ लोग छिपकर—

"वैष्णव लोग कहावहीं, कंठी मुद्रा धारि।
छिप छिपि कै मदिरा पियहिं, यह जिय माँझ विचारि॥"

कुछ लोग होटल में—

"होटल में मदिरा पियें, चोट लगे नहिं लाज।
लोट लए ठाढ़े रहत, टोटल दैवे काज॥"

और सम्पन्न लोग बाग बगीचों में—

"राजा राजकुमार मिलि, बाबू लोने संग।
बार-वधुन ले बाग में, पीअत भरे उमंग॥"

यहीं पर हम नये सामाजिक नाटकों का प्राथमिक विकास देख सकते हैं। मन्दिरों में जो व्यभिचार की कथा कही गई है, उससे भारतेन्दु की दृढ़ता और स्पष्टवादिता पर प्रकाश पड़ता है।

"विषस्य विषमौषधम्" में आजकल के राजाओं की दुर्दशा पर खेद प्रकट किया गया है। मल्हारराव के गद्दी से उतारे जाने पर यह नाटक लिखा गया था। आरम्भ रोचक है परन्तु आगे चलकर नाटक शिथिल हो गया है। यह एक भाण है जिसमें एक ही पात्र आदि से अन्त तक बोलता है। अनेक पात्रों के संवाद के अभाव में नाटक को रोचक बनाना वैसे भी कठिन था। एक उक्ति उल्लेखनीय है—"कलकत्ते के प्रसिद्ध राजा अपूर्वकृष्ण से किसी ने पूछा था कि आप लोग कैसे

राजा हैं तो उन्होंने उत्तर दिया जैसे शतरंज के राजा, जहाँ चलाइये वहाँ चलें।.........राजा और दैव तो बराबर होते हैं, ये जो करें सो देखते चलो; बोलने की तो जगह ही नहीं।" यही आलोचना श्रीनिवासदास के नाटकों में और प्रखर तथा स्पष्ट होकर आई है।

"भारत-दुर्दशा" से भारतवर्ष को लेकर नाटक लिखने की एक परिपाटी ही चल पड़ी। इस नाटक का ऐतिहासिक महत्ता अधिक है; अपने आप उतना अच्छा नहीं बन पड़ा। इसमें रोग, आलस्य, भारत-दुर्दशा, भारत-भाग्य आदि पात्र-रूप में आते हैं; इसलिये नाटक में यथार्थ चित्रण के बदले एक प्रकार की प्रतीक-व्यंजना की प्रधानता है। सम्भव है राजनीतिक परिस्थितियों के कारण इन्हीं बातों की ओर स्पष्ट लिखने में कठिनाई होती। उस समय जिस आन्दोलन और दमन का सूत्रपात हुआ था तथा खैरख्वाहों को जो उपाधि आदि दी जाती थी उस सबकी एक झलक हमें भारत दुर्दशा के कथन में मिलती है। कहता है—"कुछ पढ़े-लिखे मिलकर देश सुधारा चाहते हैं! हाहा हाहा! एक चने से भाड़ फोड़ेंगे। ऐसे लोगों को दमन करने को मैं जिले के हाकिमों को न हुक्म दूँगा कि इनको डिसलायल्टी में पकड़ो और ऐसे लोगों को हर तरह से खारिज करके जितना जो बड़ा मेरा मित्र हो उसको उतना बड़ा मेडल और खिताब दो।" उपाधिधारियों के तो भारतेन्दु पीछे पड़ गये थे और जहाँ कहीं भी अवसर पाते, उनकी खबर लेने से न चूकते थे।

तीसरे अंक में सत्यानाश फौजदार ने प्रायः वही सब बातें कही हैं जिन्हें भारतेन्दु ने अपने ग्राम-साहित्य वाले मैनिफेस्टो में सुधार के लिये बताया था। शैव, शाक्त और वैष्णवों के मतमतान्तर, नीच-ऊँच का भेद करने वाली अनेक जातियाँ, खान-पान में विवेक, जन्मपत्री मिलाये बिना ब्याह न करना, बाल-विवाह, बहु-विवाह, विधवा-विवाह का विरोध, विलायत जाने पर रोक, बहु-देव-पूजा आदि अनेक सामाजिक दोषों की ओर उन्होंने पाठकों तथा दर्शकों का ध्यान खींचा है। जैसा प्रचार यह ग्रामसाहित्य में करना चाहते थे, उसी का आदर्श उन्होंने अपने नाटक में रखा है। भारतेन्दु जिस वातावरण में पले थे, उसमें

पुरानी साहित्यिक रूढ़ियों की प्रधानता थी। काशी जैसे संस्कृत-साहित्य के केन्द्र में नाटकों के लिये धीरललित नायक ही अधिक उपयुक्त समझे जाते थे। वहाँ समाज-सुधार की बात करना नास्तिकता से कम न था। भारतेन्दु को बहुत से पण्डितों ने नास्तिक घोषित किया ही था। परन्तु उदार विचारों के सभी लेखक भारतेन्दु के साथ थे और विरोधियों में किसी में इतनी प्रतिभा न थी कि वह भारतेन्दु का विरोध करके भी अमर हो जाता। भारतेन्दु ने इस ओर जो परिवर्तन किया, वह कितना क्रान्तिकारी था, यह आज के पाठक के लिये समझना कठिन है।

"भारत-दुर्दशा" के पाँचवें अंक में प्रतीक-व्यञ्जना को प्रायः छोड़कर भारतेन्दु यथार्थ-चित्रण की भूमि पर आ गये हैं। यहाँ एक पुस्तकालय में कुछ पढ़े लिखे लोग देशोद्धार पर विवाद कर रहे हैं। सभापति "चक्करदार टोपी पहने, चश्मा लगाए, छड़ी लिए" हैं; शेष सभ्यों में एक बंगाली, एक महाराष्ट्र, एक सम्पादक, एक कवि और दो अन्य व्यक्ति हैं। पात्रों के अनुसार उनकी भाषा में परिवर्तन किया गया है। बंगाली सभ्य की भाषा वैसी ही है जैसी आज भी हम जहाँ तहाँ सुन सकते हैं। इन्हें केवल अखबारों में शोर करने से सफल हो जाने में विश्वास है जैसा कि उस समय बहुतों को विश्वास था; "ओ हुआँ का अखबार वाला सब एक बार ऐसा शोर करता कि गवर्नमेंण्ट को अलबत्ता सुनना होता।" एक सज्जन पूछते हैं कि इस कमेटी में आने से कमिश्नर साहब दरबार से उनका नाम तो न खारिज कर देंगे। आजकल के रायबहादुर लोग शायद पहले से कुछ अधिक प्रगतिशील हो गये हैं। कमेटी में एक कवि हैं; रुदनशील कवियों पर व्यंग्य करते हुए भारतेन्दु ने उनसे कहलवाया है कि देश की रक्षा वैसे ही करनी चाहिये जैसे नादिरशाह के आने पर भाँड़ों ने कहा कि जमुना-किनारे कनातों के पीछे कुछ लोग चूड़ी पहनकर खड़े रहें; जब फौज पार उतरने लगे तो हाथ निकालकर उँगली चमकाकर कहें, "मुए इधर न आइयो इधर जनाने हैं।" हरिश्चन्द्र के सामने कौन से आदर्श थे, यह इन व्यंग्य-वाक्यों से आप ही प्रकट हो जाता है। "नीलदेवी" में पागल

के मुँह से उन्होंने कहलवाया है—"हमारा देश—हम राजा हम रानी। हम मन्त्री। हम प्रजा। और कौन ? मार मार मार तलवार तलवार। टूट गई टूटी। टूटी से मार। ढेले से मार। हाथ से मार। मुक्का, जूता, लात, लाठी, सोंटा, ईंट, पत्थर-पानी सबसे मार। हम राजा, हमारा देश, हमारा भेश, हमारा पेड़-पत्ता, कपड़ा-लत्ता, छाता-जूता, सब हमारा। ले चला ले चला। मार मार मार—जाय न जाय न—सूरज में जाय, चन्द्रमा में जाय, जहाँ जाय, तारा में जाय, उतारा में जाय, पारा में जाय, जहाँ जाय वहीं पकड़—मार मार मार।" एक प्रकृतिस्थ व्यक्ति से भारतेन्दु यह सब न कहलवा सकते; उनके पागल बने हुए बसंत के कथन में उतनी ही दृढ़ता और सत्यता है जितना पागल बने हुए हैमलेट के कथन में। नीलदेवी एक ऐतिहासिक नाटक है परन्तु जो सन्देश भारतेन्दु अपने समय के देशवासियों को दे रहे थे, वह यही था कि यह देश तुम्हारा है, इसका पत्ता पत्ता भी तुम्हारा है। जैसे बने वैसे शत्रु को परास्त करके उसे वास्तविक रूप में अपना देश बनाना तुम्हारा कर्तव्य है। यही बात उन्होंने अपने बलिया वाले व्याख्यान में कही थी।

"भारत-दुर्दशा" में भारतेन्दु ने उन पत्रकारों का मखौल उड़ाया है जो कुछ अखबार निकालकर ब्रिटिश साम्राज्य को हवा में उड़ा देना चाहते हैं। कवि ने चूहों खनकाने का जो अहिंसात्मक प्रस्ताव किया था, उसमें बंगाली सभ्य को शंका हुई, "असभ्यगण आकर जो स्त्री लोगों का विचार न करके सहसा कनात को आक्रमण करेगा तो ?" इस शंका में जितना व्यंग्य है उतना कवि के प्रस्ताव में भी नहीं। तब सम्पादक महोदय ने कहा—"हमने एक दूसरा उपाय सोचा है। एडूकेशन की एक सेना बनाई जाय। कमेटी की फौज। अखबारों के शस्त्र और स्पीचों के गोले मारे जायें। आप लोग क्या कहते हैं ?" लोगों ने जो कहा सो कहा, डिसलायल्टी के आने पर सभापति महोदय ने जो कुछ कहा वह अति सुन्दर है—"आप क्यों यहाँ तशरीफ लाये हैं ? कुछ हम लोग सरकार के विरुद्ध किसी प्रकार की सम्मति करने को नहीं एकत्र हुए हैं।" जिस दहशत में लोग मीटिङ्ग करते थे, वह सभापति के शब्दों में ध्वनित

है। डिसलायल्टी इँगलिश पालिसी नामक ऐक्ट की हाकिमेच्छा नामक दफा से उन सबको पकड़ ले जाती है। भारतेन्दु जानते थे कि सरकारी अन्धाधुन्धी में पकड़े जाने के लिए सरकार के विरुद्ध कुछ मन्त्रणा करना आवश्यक न था। जैसा कि डिसलायल्टी कहती है, "कवि-वचन-सुधा" में गवर्नमेण्ट के विरुद्ध कुछ न होने पर भी यह उसको पकड़ने के लिए भेजी गई है। भारतेन्दु बाबू ने शायद अनुभव किया था कि देश-दशा पर नाटक लिखने से भी विशेष कुछ न होगा, इसलिए बंगाली सभ्य से कहलाया है—"हमारा देश में भारत-उद्धार नामक एक नाटक बना है। उसमें अँग्रेजों को निकाल देने का उपाय लिखा, सोई हम लोग दुर्देव का वास्ते काहे न अवलम्बन करें। ओ लिखता पाँच जन बंगाली मिल के अँग्रेजों को निकाल देगा। उसमें एक तो पिसान* लेकर स्वेज का नहर पाट देगा। दूसरा बाँस काट-काट के पिवरी नामक जलयन्त्र विशेष बनावेगा। तीसरा उस जलयन्त्र से अँग्रेजों की आँख में धूर और पानी डालेगा।" भारतेन्दु के जिस व्यंग्यपूर्ण शैली से यहाँ काम लिया है, उसी का राधाचरण गोस्वामी ने आगे चलकर विकास किया।

"अन्धेर नगरी" में भी एक प्रकार की प्रतीक-व्यंजना है परन्तु अन्धेर नगरी और अनबूझ राजा सरल सामाजिक प्रतीक हैं, कथा में किसकी ओर संकेत था, इसे समझने में किसी को कठिनता न होती। अन्धेर नगरी में टके सेर भाजी, टके सेर खाजा है; पण्डित मूर्ख सब एक ही भाव तौले जाते हैं। "हरिश्चन्द्र मैगजीन" में यूरोपीय के प्रति भारतवर्षीय के प्रश्नों में भारतेन्दु ने लिखा था—"इससे जान पड़ता है कि न आप पण्डित की ओर हैं न मूर्ख की, जैसे धोबी कुत्ता न घर का न घाट का!" इसी सूत्र को लेकर अन्धेर नगरी की रचना हुई है। जन-साहित्य में यह एक आदर्श नाटक है। भारतेन्दु ग्राम-जनता में जिस साहित्य का प्रचार करना चाहते थे उसी का यह एक उदाहरण है। इसका व्यंग्य और हास्य उन

---

* आटा

सब लोगों के लिए भी है जो साहित्य के "मर्म" तक नहीं पहुँच पाते। कुँजड़िन कहती है—"ले हिन्दुस्तान का मेवा फूट और बैर।" चूरनवाले की कविता प्रचार की दृष्टि से सुन्दर है। ग्राम-साहित्य का जो आदर्श रखा था, उसकी कसौटी पर ये पंक्तियाँ खरी उतरती हैं—

"चूरन अमले सब जो खावें, दूनी रिशवत तुरत पचावें।
चूरन नाटकवाले खाते, इसकी नकल पचाकर लाते।
चूरन सभी महाजन खाते, जिससे जमा हजम कर जाते।
चूरन खाते लाला लोग, जिनको अकिल अजीरन रोग।
चूरन खावें एडिटर जात, जिनके पेट पचै नहिं बात।
चूरन साहब लोग जो खाता, सारा हिंद हजम कर जाता।
चूरन पुलिसवाले खाते, सब कानून हजम कर जाते।
ले चूरन का ढेर, बेचा टके सेर।"

इस अन्धेर नगरी का अन्त वैसे ही होता है, जैसे होना चाहिये; बैकुण्ठ जाने की आशा से राजा स्वयं फाँसी पर चढ़ जाता है।

"प्रेमजोगिनी" नाटक अधूरा है। इसका नाम "प्रेमजोगिनी" क्यों रखा गया' यह स्पष्ट नहीं है। जितने अंक लिखे गये हैं उनमें न तो प्रेम है, न कोई जोगिनी। इन अंकों की कथा बिखरी बिखरी सी है परन्तु चित्रण एकदम यथार्थवादी है। यहाँ हम अपने को काशी के मन्दिरों की चहलपहल में पाते हैं। मन्दिर के मिसिर जी, झपटिया आदि की बात-चीत बड़ी स्वाभाविक है। उनकी बोली में ग्रामीणता का पुट है। पहले ही दृश्य का आरम्भ अत्यन्त नाटकीय है जैसा उनके और किसी नाटक में नहीं है। झपटिया मन्दिर में सबेरे सबेरे आकर अपने को अकेला पाकर और किसी के न आने की शिकायत करता है। तब तक आँखें मलते हुए मिश्र जी आते हैं। किसी विशेष पात्र के चरित्र-विकास की चेष्टा यहाँ नहीं है। भारतेन्दु ने एक भीड़ का, एक चहल-पहल का, जिसमें बहुत तरह के लोग और बहुत तरह की बोलियाँ मिल गई हैं, चित्र खींचा है। तीसरे दृश्य में मुगलसराय स्टेशन का चित्र वैसा ही मनोरंजक है। नाटक के निर्माण में भी भारतेन्दु ने परिवर्तन किया है।

उसे बड़े या छोटे अङ्कों में न बाँटकर, उन्होंने प्रत्येक अँक को दृश्यों में बाँट दिया है। पहले वह संस्कृत परिपाटी के अनुसार अँक में दृश्य न रखते थे; अँक वास्तव में एक लम्बा दृश्यमात्र होता था।

भारतेन्दु के हृदय में जो आदर्श और यथार्थ की दो धाराएँ वह रही थीं, वे "सत्य हरिश्चन्द्र" और "प्रेमजोगिनी" के काशी-वर्णन से समझ में आ जाती हैं। "हरिश्चन्द्र" में काशी एक आदर्श नगर है। "नव उज्ज्वल जलधार हार हीरक सी सोहति" आदि वाक्य गंगा की प्रशन्सा में कहे गये हैं। यहाँ काशी की प्रशन्सा भी की गई है तो व्यंग्य के साथ—"जहाँ श्रीमती चक्रवर्त्ति निचय पूजित पादपीठा श्रीमती महाराज्ञी विक्टोरिया के शासनानुवर्त्ती अनेक कमिश्नर, जज, कलेक्टरादि अपने अपने काम में सावधान प्रजा को हाथ पर लिए रहते हैं और प्रजा उनके विकट दण्ड के सर्वदा जागने के भरोसे नित्य सुख से सोती है।" जो महोदय काशी की प्रशन्सा करते हैं वह जजमान फँसाने के लिये। परन्तु काशी का सच्चा चित्र "देखी तुमरी कासी—लोगो, देखी तुमरी कासी" में मिलता है। "नव उज्ज्वल जलधार" के साथ यथार्थ के इस चित्र को मिलाइये—

> "मैली गली भरी कतवारन सड़ी चमारिन पासी।
> नीचे नल से बदबू उबलै मनो नरक चौरासी॥'

अमीरों के लिये स्पष्ट लिखा है—

> "अमीर सब झूठे औ निंदक करें घात विश्वासी।
> सिपारसी डरपुकने सिट्टू बोलैं बात अकासी।"

मध्यवर्ग की विलासप्रियता इस प्रकार है——

> "घर की जोरू लड़के भूखे बने दास औ दासी।
> दाल की मंडी रंडी पूजैं मानो इनकी मासी।"

यह खेद की बात है कि भारतेन्दु इस सुन्दर और सर्वथा मौलिक नाटक को पूरा न कर पाये। जिस प्रकार यह नाटक चल रहा था, उस प्रकार उसे पूरा करना कठिन भी था। यथार्थ का चित्रण करते हुए भारतेन्दु उसमें ऐसे तन्मय हो गये थे कि कथा गढ़ना वह शायद भूल गये थे।

फिर भी यह एक महत्त्वपूर्ण प्रयोग था और अन्य लेखकों ने इस क्रम को आगे बढ़ाया। नाटकीय दृष्टि से अनेक लेखकों की रचनाएँ अधिक पूर्ण हैं। परन्तु मनोरंजन के विचार से भारतेन्दु से बाजी मार ले जाना जरा कठिन है। जैसी सरल कविता और गीत उनके नाटकों में हैं, वैसे और किसी के नाटकों में नहीं हैं। राधाचरण गोस्वामी का व्यंग्य अधिक सुथरा और उनके नाटक अधिक सुनिर्मित हैं; परन्तु भारतेन्दु जनता को रिझाना जानते थे, रिझाने के साथ सुधार के लिये उसे उत्तेजित करना भी जानते थे। उन्होंने बड़ी-बड़ी मनोवैज्ञानिक उलझनें खड़ी नहीं कीं; उनके चरित्र-चित्रण में अध्ययन करने के लिये मोटी-मोटी गुत्थियाँ नहीं हैं। परन्तु उनके नाटकों में पाठक सब की काशी की गलियों में और मन्दिरों में घूमने लगता है; एक विशाल समुदाय से उसका परिचय हो जाता है जिसकी वाणी बहुत सुथरी हुई नहीं जान पड़ती। कभी कभी बहुत तरह की होने से उसे समझने में कठिनता भी होती है। इस समुदाय की वाणी में कहीं रुदन है, कहीं हास्य है; उसके बीच नाटककार अपने व्यंग्य का अंकुश लिए उसे प्रगति-पथ पर ठेलता दिखाई देता है भारतेन्दु की कठिनाई का हम सहज अनुमान कर सकते हैं; उनकी साध बड़ी है, साधन छोटे हैं। कभी वह हताश भी हो जाते हैं, परन्तु अधिकतर उनके स्वर में आशा और उत्साह है। वह अपने पाठक में एक सबल प्रेरणा उत्पन्न कर सकते हैं। इस कोलाहल में वह मधुर स्वरों को नहीं भूले; नीलदेवी में सिपाही के गाने की मिठास पर अचरज होता है। चूरनवाले के लटके से लेकर सत्य हरिश्चन्द्र में नरमुंड पर राजा हरिश्चन्द्र के विचार तक अनेक भावों के तार वह झंकृत कर सके हैं। उनमें सफल नाटककार का यह गुण है कि पर्दे पर उनकी अँगुली कभी झूठी नहीं पड़ती। वह प्रत्येक भाव को, प्रत्येक पात्र को वाणी देने में समर्थ हैं। सरस्वती-साधना से अधिक यह उनकी समाज-हित-साधना का ही परिणाम है।

नाटककार–श्रीनिवासदास और प्रतापनारायण मिश्र

जहाँ "भारत-दुर्दशा" में भारतेन्दु ने देश-दशा पर दुख प्रकट किया था, वहाँ कुछ ऐसे आशावादी लोग भी थे जिन्हें अंग्रेजी शासन में राम राज्य मिल गया था और चारों ओर सुख ही सुख दिखाई देता था। अम्बिकादत्त व्यास का "भारत-सौभाग्य" नाटक इसी प्रकार का है। सौभाग्य से ऐसे नाटक और नाटककार अधिक नहीं थे। विक्टोरिया के ५० वर्ष राज्य करने के उपलक्ष में यह नाटक लिखा गया था। एक ही प्रकार के प्रतीक कैसे अलग-अलग कथाओं के लिये काम में लाये जा सकते हैं, यह "भारत-सौभाग्य" और "भारत-दुर्दशा" की तुलना से मालूम हो जाता है। भारतेन्दु के भारत-आलस्य, भारत-दुर्दशा आदि की जगह इसमें भारत-दौर्भाग्य विषय-भोग, प्रताप, उत्साह आदि ने ले ली है। इसमें कुल मिलाकर एक अंक है और उस अंक में चार दृश्य हैं इन चार दृश्यों में गद्‌गद्‌ गुण-गान के सिवा और कुछ नहीं है। 'भारत-सौभाग्य' से तुलना करने पर पता चलता है, "भारत-दुर्दशा" जनता में कौन-सी नई प्रेरणा जगाने के लिये लिखा गया था।

श्रीनिवासदास का "तप्तासंवरण" नाटक पहले "हरिश्चन्द्र मैगज़ीन" में छपा था। यह एक पौराणिक नाटक है जिसमें तप्ता और संवरण के प्रेम का वर्णन है। सूर्य, वशिष्ठ आदि पात्र भी इसमें आते हैं। पुस्तक-रूप में छपने पर लेखक ने इसके प्रकाशन के लिये क्षमायाचना सी की है। उसे पुरानी चाल का छोटा सा नाटक कहा है और कथावस्तु लोकोपकारी नहीं शृँगार-विषयक है, इस पर खेद सा प्रकट किया है। भारतेन्दु-युग में पौराणिक और ऐतिहासिक नाटक उतने नहीं लिखे गये जितने यथार्थ से सम्बन्ध रखने वाले। जो ऐतिहासिक नाटक लिखे गये हैं वे भी बहुधा युग की कोई बात सुझाने या सिखाने के लिये लिखे गये हैं।

"तप्तासंवरण" से श्री निवासदास का "संयोगिता-स्वयम्वर" अधिक सफल हुआ है। इसकी भाषा सरल और रंगमंच के अधिक उपयुक्त है। इसमें तीसरे अंक के पहले दृश्य में कवि चन्द पृथ्वीराज के आगे भूषण का "इन्द्र जिमि जंभ पर" आदि कवित्त पढ़ते हैं। नाटक के अन्त में जयचन्द-पृथ्वीराज का मेल भी हो जाता है। श्रीनिवासदास का सबसे अच्छा नाटक "रणधीर प्रेममोहिनी" है जिसके लिये "कवि-वचन-सुधा" ने लिखा था कि "एक लोटा हो पास हो तो उसे बेचकर इस नाटक को खरीदो।" ६ दिसम्बर १८७१ ई० को प्रयाग में आर्य नाट्यसभा द्वारा यह खेला गया था। इसके लिये सूत्रधार-नटी आदि का सम्वाद भारतेन्दु ने लिखा था। इस नाटक पर अँग्रेजी नाटकों का प्रभाव अधिक है, संस्कृत नाटकों का कम। सूत्रधार आदि के सम्वाद जो भारतेन्दु ने लिखे थे तथा नाटक की रचना जो नये ढंग की है, वे यह बताते हैं कि नाटक का रूप अभी स्थिर न हो पाया था। यह एक दुःखान्त नाटक है; इस बात में भी यह संस्कृत नाटकों की परम्परा के विपरीत है। संस्कृत नाटकों के प्रेमी भारतेन्दु ने "कवि-वचन-सुधा" में इसकी बड़ी प्रशंसा की थी जिससे उनकी उदारता प्रकट होती है। यह नाटक अर्द्ध ऐतिहासिक सा है। सूरत की राजकुमारी प्रेममोहिनी से रणधीर का प्रेम हो जाता है परन्तु सूरत के महाराज उसे साधारण

राजपूत जानकर उसके साथ प्रेममोहिनी का विवाह नहीं कराना चाहते। इसी पर युद्ध होता है जिसमें रणधीर के प्राण जाते हैं।

इस नाटक में पाँच अंक हैं और संस्कृत-नाटकों के विपरीत प्रत्येक अंक कुछ गर्भों की या दृश्यों में बँटा हुआ है। इस नाटक का मुख्य दोष यह है कि कहीं कहीं पात्रों के सम्वाद बहुत लम्बे हो गये हैं और गाने भी छोटे नहीं हैं। ये तथा ऐसे ही कुछ अन्य दोष अभिनय करते समय अवश्य सुधार लिये गये होंगे। वैसे इस नाटक में नव-जागृति का स्वर स्पष्ट है। रणधीर ने सूरत के महाराज से जो कुछ कहा है, उसमें जागीरदारी सभ्यता के लिए नये युग की चुनौती है। रणधीर कहता है—"जैसे आपके ऊँचे ऊँचे महलों पर सूर्य की धूप पड़ती है तैसे ही हमारी गरीब झोंपड़ी में भी सूर्य भगवान् प्रकाश करते हैं; जैसे आपके कलशदार महलों पर घनघोर घटा जल बरसाती है, तैसे हमारी गरीब झोंपड़ी को भी अपनी अपार दया से सूखा नहीं रखती। हमारा आपका सब संसारी हाल एक सा है और हम तुमको यह झूठा झगड़ा छोड़कर एक दिन अवश्य यहाँ से जाना पड़ेगा परन्तु आपके मुकुट में अभिमान का तुर्रा और लगा है, यही आपकी बड़ाई है।" यहाँ पर आधुनिक साहित्य में पहली बार एक व्यक्ति ने अपनी झोंपड़ी पर अभिमान प्रकट करते हुए अपने आपको मनुष्य होने के नाते राजा के बराबर कहा है; उसके राजसी अभिमान को अपनी साधारणता की भूमि से ललकारा है।

रिपुदमन ने जो राजाओं को धिकारा है, उस धिकारने में भी युग की चुनौती है। "जो राजा मतवाले होकर आठ पहर रनिवास में बैठे रहते हैं, जो राजा वेश्यागामी होकर उनके पीछे पीछे फिरते हैं, जो राजा अपनी प्रजा के दुख सुख का कुछ विचार नहीं करते""उनके जीवन पर धिक्कार है।" यद्यपि यह नाटक अर्द्ध ऐतिहासिक है, तथापि लेखक की दृष्टि अपने युग के राजाओं की ओर ही अधिक है। इलाहाबाद के "इण्डियन ट्रिब्यून" की सम्मति में, जो पुस्तक के साथ छपी है, राजाओं का ध्यान इसकी ओर आकर्षित किया गया है। परन्तु इसकी आधुनिकता केवल

राजाओं के चित्रण में नहीं है; इसमें अनेक पात्र ऐसे हैं जो उस युग के तथा अन्य विशेष वर्गों के प्रतीक हैं। मारवाड़ी नाथूराम के चित्रण में सम्भवतः हिन्दी नाटकों की उस परम्परा का आरम्भ होता है, जिसमें मारवाड़ी सेठों का बराबर मजाक बनाया जाता रहा है। मुनव्वरीलाल, निरञ्जन चौबे आदि का चित्रण भी अत्यन्त सजीव हुआ है।

रणधीर और प्रेममोहिनी की प्रेम-वार्त्ता पुराने अलंकारिक ढंग की है, परन्तु उसमें एक मर्मस्पर्शी सरलता है। प्रेममोहिनी के अचेत होने पर रणधीर के मुँह से ऐसे बरबस ये शब्द निकल पड़ते हैं—"इसकी अचेत दशा भी मेरे मन को चैतन्य करने वाली है।" इस अलंकारिक व्यञ्जना में एक मनोवैज्ञानिक सत्य है। वैसे ही प्रेममोहिनी की उक्ति करुण है—"हाय! मेरे भाग में क्या ये ही लिखा है कि मैं इन्हें उठाने को हाथ डालूँ तो यो मेरा हाथ लगते ही अंगार हो जाय!" रणधीर जब प्रभात की ओर ध्यान दिलाता है, तो उसका वर्णन बिल्कुल संस्कृत कवियों जैसा होता है। यहाँ हम संस्कृत नाटकों का प्रभाव देख सकते हैं। वर्णन अलंकारिक है परन्तु उसकी भाषा वैसी ही सरल है जैसी भारतेन्दु को छोड़ कर बहुत कम लेखक लिख पाते थे। रणधीर आकाश की ओर देखकर कहता है—"हे प्रिये! देखो, सूर्योदय का समय हो गया, दीपक की जोत मंद पड़ गई, हार के मोती शीतल हो गये, पक्षी चहचहाने लगे और कमल के चिकने-चिकने पत्तों से ओस की बूँद मोतियों की लड़ी के समान ढलकने लगी। अब तुम आज्ञा दो तो मैं भी जाकर स्नान करूँ।" रणधीर-प्रेममोहिनी की प्रेम-वार्त्ता रोमियो-जूलियट की वार्त्ता जैसी है; सरल कृत्रिमता में भी मधुरता है। शेक्सपियर के नाटक के समान यह दुःखान्त है। यहाँ पर संघर्ष ऊँच नीच का है, राजा और प्रजा का। रणधीर उच्चकुल का होते हुए भी प्रजा का प्रतिनिधि बनकर बोलता है। इसीलिए सूरत के महाराज कहते हैं—"तुम क्षत्री के नाम से हमारी बराबरी के बनते होगे।" और—"क्या मैं सोने के सुहावने दाने को काले मुँह की चिर्मिठी के साथ तौल दूँ।" इसी अभिमान के कारण रणधीर प्रेममोहिनी के प्रणय का दुःखमय अन्त होता है।

उस समय के हिन्दी, बँगला, गुजराती, अँग्रेजी के पत्रों में इस नाटक की खूब प्रशन्सा छपी थी। लन्दन के "इण्डियन मेल" पत्र ने इसमें अनेक पात्रों की विभिन्न प्रकार की भाषाएँ देखकर लिखा था कि यह भारतवर्ष की आर्य-भाषाओं के विद्यार्थियों के लिए अत्यन्त उपयोगी है ("Of uncommon interest to the study of Modern Aryan Languages of India.") उस समय के अधिकांश नाटककार अपने पात्रों के अनुरूप ही संवाद की भाषा रखते थे; इससे उनका यथार्थवाद की ओर झुकाव प्रकट होता है।

काशिनाथ ने तीन ऐतिहासिक नाटक लिखे थे। "सिंध देश की राजकुमारियाँ" नाटक में सिंध पर पहले मुसलमान आक्रमण से कथा ली गई है। दोनों राजकुमारियाँ खलीफ़ा के पास भेजी जाती हैं। वे झूठ बोलकर मुहम्मद बिन कासिम को दण्ड दिलवाती हैं और स्वयं दीवाल में चुनवा दी जाती हैं। कथा नाटकीय और भाषा ओजपूर्ण है। काशिनाथ के अन्य नाटकों की भाँति यह भी एक कोचर जैसा है। यह स्टेज पर तब तक नहीं खेला जा सकता जब तक कोई सूत्रधार के समान अलग से कथा कहने वाला न हो। जैसे दूसरे अंक के आरम्भ में—"खलीफ़ा रात दिन यही इन्तिजारी करते थे कि कब वह हरामजादा आवे और कब मैं इन दोनों को अपने महलों में लूँ कि यों ही एक महीना स्वप्न सा बीत गया।" इस प्रकार की सूचनाओं का आधुनिक पश्चिमी नाटकों में नितान्त अभाव नहीं है। काशिनाथ ने इन सूचनाओं को अभिनय को सफल बनाने के लिए न लिखा था; वे कथा का एक अभिन्न अंग हैं और रंगमंच की दृष्टि से यह उनके नाटकों का मूल दोष है।

"गुन्नौर की रानी" में भी उसी प्रकार की कथा है। रानी मुसलमान सरदार को विषैले वस्त्र पहनाकर मार डालती है और स्वयं नदी में डूबकर प्राण दे देती है। "लवजी का स्वप्न" कुल चार पृष्ठों का एक बहुत छोटा सा नाटक है और रघुवंश की एक कथा को लेकर रचा गया है। "उपाहरण" नाम का एक पौराणिक नाटक कार्तिकप्रसाद खत्री ने लिखा था। इसमें उनके यथार्थवादी अधूरे नाटक "रेल का विकट खेल"

की सी रोचकता नहीं है। माया पौराणिक नाटकों की परम्परा के विपरीत बहुत सीधी है। उषा और उसकी सखियों की बातचीत गाँव की स्त्रियों जैसी है। पौराणिक उपाख्यानों में उषा की जो कल्पना की गई है, उसे इस ग्रामीणता से धक्का लगता है। उषा स्वप्न में देखे हुए अनिरुद्ध को सोचकर कहती है—"हे गौरा मैया, अब मेरे अपराध छमा कर। मेरे कलेश छुड़ाने का जल्दी कुछ उपाय करो नहीं तो अब ये प्रान जाया चाहे हैं।" नाटक में पौराणिकता कम है, परन्तु सजीवता का अभाव नहीं है। कार्तिकप्रसाद यथार्थवादी चित्रण में कुशल थे। परन्तु उस ओर उनकी प्रतिभा का पूरा उपयोग नहीं हो पाया।

"उषाहरण" की तरह प्रतापनारायण मिश्र के संगीत शाकुंतल में [illegible] की नागरिकता का नाम नहीं है। यह ठेठ देहात में दुष्यन्त [illegible] की कथा का अभिनय करने के लिये लिखा गया है। इसका ढाँचा न संस्कृत नाटकों का है, न अँग्रेज़ी नाटकों का, यह नौटंकी का एक विशुद्ध रूप है। इसमें कुछ स्त्रीपात्रों के गीत ग्रामगीतों की धुन पर बनाये गये हैं। ग्रामगीतों के आधार पर गीत रचने की परिपाटी का अधिक लोगों ने अनुसरण नहीं किया। प्रतापनारायण ने जो गीत लिखे हैं वे इस ओर आदर्श हैं। नाटक में जहाँ तहाँ प्रतापनारायण मिश्र की मौलिकता यथेष्ट है। चौथे अङ्क में धीमर का "चलौ दारू पियन" गाना सुन्दर बन पड़ा है। पाँचवें अङ्क के पहले दृश्य में कंचुकी का गाना है—"हाय बुढ़ापा तोरे मारे अब तो हमन कुन्याय गयन।" बैसवाड़ी में लिखा हुआ यह गीत अलग से इतना प्रसिद्ध हुआ है कि लोग भूल गये हैं कि यह नाटक में एक बूढ़े पात्र के लिये लिखा गया था। मूल नाटक के विपरीत प्रतापनारायण ने संगीत शाकुंतल के अङ्कों को दृश्यों में बाँटा है। कुछ लेखकों को छोड़, जिनमें भारतेन्दु भी थे, अधिकतर लोगों की प्रवृत्ति अङ्कों में दृश्यों का समावेश करने की ओर थी।

प्रतापनारायण मिश्र का "भारत-दुर्दशा रूपक" भारतेन्दु के इसी नाम के नाटक के अनुकरण पर लिखा गया है। भारत, कलियुग, आलस्य, पण्डित आदि पात्र इसमें भी आते हैं। जहाँ तहाँ प्रतापनारायण

के अपने परिहास के पुट अच्छे हैं। भारत की औषधि के लिये जब पण्डित जी सेठ जी से रुपया माँगते हैं तो यह कहते हैं—"पैसो कठैसे आवेगो ? फरंगिया तो सगड़ा धन्धा ले गयो।" महाराष्ट्री सज्जन के प्रस्ताव में कि विदेश से कल मँगाकर स्वदेशी कपड़ा पहनेंगे, सुन्दर व्यंग्य है। प्रतापनारायण मिश्र ने भी भारतेन्दु की तरह एक बंगाली का उपहास किया है। बाहर से शत्रु की चढ़ाई होने पर उसका गाना "दीनबन्धु दीनानाथ करिये शहाई हो" मनोरंजक है।

"कलिकौतुकरूप" में कलियुग नाम को ही है; इसमें भारत, कलियुग आदि जैसे काल्पनिक पात्र नहीं हैं। इसकी कथा सामाजिक है और पात्रों का आधार यथार्थ है। नाटक के नाम के साथ उसकी व्याख्या में लिखा है, "जिसमें बड़े बड़े लोगों की बड़ी बड़ी लीला विशेषतः नगर निवासियों के गुप्त चरित्र दिखलाए गए हैं।" प्रतापनारायण मिश्र ने यथार्थ से कथावस्तु ली थी, इसलिये कुछ लोगों के रुष्ट हो जाने की कल्पना करके समर्पण में लिखा था "हाँ हाँ, साँच को आँच क्या।" नाटक में प्रदर्शित अनाचार कितना व्यापक है, इसी को लक्ष्य करके समर्पण की प्रारम्भिक पंक्तियों में लिखा था—"क्या यह कौतुक न देखोगे ? जिसके अभिनय-कर्ता बहुत, पर दर्शक केवल हमी तुम हैं। वाह रे खेल ! देखने वाले तो आँखें मूँदे बैठे हैं, तुम भी न देखोगे तो यों ही भोर न हो जायगा।" आरम्भ में धर्म सम्बन्धी उद्धरण और फिर समर्पण आदि इसलिये थे कि लोग प्रतापनारायण मिश्र के लक्ष्य को समझ सकें। उन्होंने बड़ी निर्भीकता से समाज में फैले हुए अनाचार को चित्रित किया था, इसलिए किसी सम्पादक-आलोचक से घासलेटी की उपाधि पाना उनके लिये असम्भव न होता।

यह एक यथार्थवादी नाटक है और इसके पात्र उस समय के समाज से लिये गये हैं। मुंशी शंकरलाल एक उर्दू-भक्त हैं, बाबू मायादास नयी अँग्रेजी सभ्यता के गुलाम हैं, प्रेमचन्द एक सच्चा देशभक्त है, कँचासिंह एक कनपुरिया गुंडा है, भुशुण्डीदास एक बगुला भगत है और पण्डित चण्डीदत्त एक "बिगड़ैल दिहाती" हैं। कथा का

नायक एक धनवान किशोरीदास है। जैसा वह धनी है, वैसा ही दुश्चरित्र है और जैसे वह स्वयं दुश्चरित्र है, वैसे ही उसके घर में भी दुश्चरित्रता का वास है। आगे जो नाटकों की एक परम्परा चल पड़ी कि सती साध्वी पत्नी को छोड़ कर धनी नायक किसी वेश्या के प्रेम में पड़ जाता है और फिर पैसा न रहने पर अपनी पत्नी के पुनः शरणागत होता है, उस परम्परा से यह नाटक बिलकुल अलग है। किशोरीदास, भुगुण्डीदास आदि का दुःखमय अन्त होता है परन्तु यह नाटक दुःखान्त नहीं कहा जा सकता। हिन्दी-पत्र सम्पादक शिवनाथ के शब्दों में शायद प्रतापनारायण मिश्र ने अपनी ही सम्मति दी है:—"यद्यपि देश भाइयों का दुःख देख के दया आती है पर ऐसे लोग जिनमें सर्वसाधारण का अनिष्ट सम्भावित है, अवश्य दण्डनीय हैं।" सुखान्त नाटकों में तो यह और भी नहीं मिलता। इसमें एक सामाजिक चित्र खींचा गया है; और फिर वह सुखान्त है कि दुखान्त, इस पर विशेष विचार नहीं किया गया।

पहले ही दृश्य में किशोरीदास की स्त्री श्यामा और उसकी सखी चम्पा की बातचीत अपनी स्वाभाविकता से चकित कर देने वाली है। उनकी भाषा व्रजभाषा मिश्रित हिन्दी है; संवाद के लिये ग्रामीणता का पुट लिये हुये भाषा का प्रयोग आगे चलकर प्रेमचन्द ने विशेष किया। हिन्दी में आजकल जो नाटक निकलते हैं, उनमें बहुत कम ऐसे होते हैं जिनमें संवाद इतना स्वाभाविक और पात्रों के अनुकूल हो। श्यामा और चम्पा दोनों ही दुश्चरित्र हैं और दोनों ही पहले एक दूसरे से उड़ने की चेष्टा करती हैं परन्तु असफल होती हैं। उच्च गृहस्थों के यहाँ सदाचार की क्या दशा थी, इस पर लेखक ने निर्भीकता से प्रकाश डाला है। इस व्यभिचार को बढ़ाने वालों में सन्तान देने वाले बाबा लोग, पुजारी, शहर के लफंगे आदि हैं। चम्पा गंगाजी के किनारे टिके हुए बाबाजी के बारे में कहती है—"तू भी बाबाजी को जानै है ? भाई बड़े पहुँचे ! एक दिन मैं गई सो कहैं क्या हैं कि सन्तान तौ लिखी है पर गिरस्त से नहीं—मैं तो सुन के रह गई !" इस प्रकार के स्पष्ट स्थल संकेत करते हुए इन बाबा लोगों को कोई झिझक न होती थी। इसका कारण स्त्रियों का

चंचलपन ही था। शायद उस चंचलपन का कारण पतिदेव की उदासीनता थी। चम्पा अपने पति के बारे में कहती है—"अपने रुजगार, व्यौहार और कचहरी दरबार ही में रहैं हैं—रोटी खाने और बारह एक बजे तक सो रहने के सिया घर से काम ही नहीं रक्खैं हैं—मैं चाहूँ सो करूँ!" जिस सभ्यता को हम भारतीयता कहने के आदी हैं, उसका एक साधारण प्रतीक यह चम्पा का पति है। पैसा ही माता पिता नहीं है, वह पत्नी और पुत्र भी है; इसलिये उसका सेवक अपने आपको पारिवारिक और सामाजिक धर्मों के लिये निकम्मा बना लेता है। चम्पा अपने सन्तानहीन होने पर दुख न प्रकट करके कुल की रीति का उल्लेख करती है—"हमारे तो तीन पीढ़ी से गोद ही लेते आवैं हैं सो देखी जायगी। अभी तो हम आप लड़का हैं।"

रसिकबिहारी एक नागरिक लम्पट है; प्रेम की लच्छेदार बातें करता है और बात-बात में शेर कहता है। श्यामा के गले में हाथ डालकर उसे शेर कहना सिखाता है। इतने ही में किशोरीदास आता है; श्यामा रसिक बिहारी को दूसरी जगह छिपा देती है। तब तक भक्त किशोरीदास गोसाईं जी की यह चौपाई कहते हैं—

"राम रमापति करधन लेहू। खैंचहु चाप मिटै सन्देहू॥"

श्यामा उनका सन्देह बड़ी सफाई से मिटा देती है। उन्हें रंडी के यहाँ जाना है परन्तु बहाना करते हैं कथा सुनने का; देवीजी को भी अपने प्रिय मित्र से मिलने की जल्दी है परन्तु ऊपर से पति के जाने और अपने अकेले रहने पर बड़ा खेद प्रकट करती हैं। पत्नी को हार देकर फुसलाते हुए पति देवता जाते हैं और धर्मपत्नी जी अपने प्रेमी के साथ एकान्त का सदुपयोग करने जाती हैं!

दूसरे दृश्य में किशोरीदास, ब्रह्मानन्द और गप्पूमल के साथ बैठे हुए धर्मचर्चा करते हैं कि उनके मित्र मायादास एक शेर गुनगुनाते हुए आते हैं। इस पर ब्रह्मानन्द के साथ किशोरीदास भी ऐसे मद्य-सम्बन्धी शेर गुनगुनाने के लिये उनकी निन्दा करते हैं। किशोरीदास बाजार का पान भी नहीं खाते। ब्रह्मानन्द के जाने पर लाला शंकरलाल धोती में बोतल

छिपाये आते हैं। धीरे से गप्पूमल भी खिसकते हैं। इतने में लश्करीजान और नब्बू भी आ जाते हैं और चण्डाल चौकड़ी पूरी हो जाती है। चण्डीदत्त कहते हैं, तो अब विलम्ब केहि काज, और धीरे धीरे रंग जमना शुरू होता है। कोई शेरें कहता है, कोई दोहा; पण्डित चण्डीदत्त कहते हैं—"जहिले जिउ तहिले पिउ। जब न रही जिउ, तब को ससुरवा कही कि ले पिउ।" और फिर पण्डित जी अपने गाँव में सुना हुआ धोबियों का एक प्रिय गीत आरम्भ करते हैं—"बाजै बाजै रे सुपलिया समधिन तोरे अँगना। महुवा पोर्ँ औ ढरकावैं समधिन तोरे अँगना।" अवध के धोबी सूप बजा बजाकर यह गीत गाते हैं। नाटक में लोग बीच बीच में शेरें, दोहे, ग्राम-गीतों के कुछ टुकड़े आदि भी जोड़ते जाते हैं। इसी प्रकार के ... गाते और बहकी बातें करते हुए इस दृश्य का अन्त होता है।

तीसरे दृश्य में किशोरीदास के गोद लिये हुए लड़के पदमचन्द की कीर्तिकथा का चित्रण है। उस्ताद लट्ठासिंह इनके रक्षक हैं। "पचासों लावनीबाज जो उनके चेले हैं मानो हमारे ही गुलाम हैं। जिसकी तरफ हम जा पड़ें कोई भाँग लिए हाजिर है, कोई इमरती लिए खड़ा है, कोई रबड़ी लिए मौजूद है।" और सब सुख होते हुए भी राजा गन्नू के प्रति आकर्षण इन्हें कल से नहीं रहने देता। उस समय और आजकल के भी स्कूली लड़कों की भाषा और भाव का उदाहरण देखिये। उग्रजी से बहुत पहले प्रतापनारायण मिश्र ने पदमचन्द और उसके साथियों के चित्रण द्वारा उस अनाचार पर प्रकाश डाला था जिसका उल्लेखमात्र सभ्यसमाज को अखरता है। पदमचन्द कहता है—"पर हाय राजा गन्नू! एक तुम्हीं हमें अब तक बातों में टालते हो! हम घर में जो कुछ चुराते हैं, तुम्हीं को नजर करते हैं। यार लोगों से जो कुछ लाते हैं तुम्हीं को खिलाते हैं। पर तुम नहीं पसीजते! हाय रे तेरे चिकन के कुरते! हाय रे तेरी बाँकी टोपी! हाय रे तेरे गाल का तिल! जी चाहता है तुझे दम भर आँखों से दूर न करें! याद रक्खो, तुम्हें राह पर लाके न छोड़ा तो नाम नहीं।" इस प्रेमकथा का एक दूसरा पहलू भी है। पदमचन्द का प्रेमी बालगोविन्द कहता है—"कल तो हमने तुम्हारे वास्ते मेला भर छान डाला पर तुम

तो बाबू ईद के चाँद हो गए!" "यां चिंतयामि" का यह चक्र चलता जाता है। इतने में फैंचासिंह गुंडा आकर पदमचन्द को छेड़ता है। अपने से एक और बड़े गुंडे शेरासिंह के आने पर वह वहाँ से टहल जाता है। शेरा पदम से कुछ पैसे वसूल करके अपने लट्टू को बधाई देता जाता है—"न हाकिम का खटका, न रैयत का गम। अरे वाह रे लट्टू और वाह रे हम।" जब फैंचा लौटकर आता है तो देखता है कि भगत गुसुंईदास पदम को फुसलाये लिये चले जाते हैं; कहता है—"तुम हमारे भी गुरू घंटाल निकले! और कोई होता तो कसम महावीर स्वामी की खोपड़ी रंग देते पर नहीं तुम्हारी बदौलत और बहुत से पंछी हाथ आते हैं!" इस प्रकार शृङ्गार रस और भक्ति रस का बीभत्स रस में अन्त होता है।

अगले दृश्य में किशोरीदास का अन्त जेलखाने में और पदम का अन्त नौकर के रूप में रंडी के यहाँ होता है। श्यामा की अपने भाई के यहाँ दुर्दशा है। अन्तिम दृश्य में कुछ नागरिक इन लोगों की कथा की चर्चा करते हैं और उस पर अपने विचार प्रकट करते हैं। लम्पट रसिकविहारी पहले ही जैसे मजे में हैं! इस प्रकार चार दृश्यों में इस छोटे से नाटक का अन्त होता है।

अन्तिम दृश्य में कुछ उपदेशात्मक संवाद अधिक हो गया है; अन्य दृश्यों में संवाद अत्यन्त सफल हुए हैं। आरम्भ में नांदी पाठ के रूप में एक दोहा भर है; सूत्रधार नटी आदि का संवाद नहीं है। उच्चकोटि के नाटकीय संघर्ष का इसमें अभाव है; परन्तु उसकी कमी सजीव चरित्र-चित्रण और स्वाभाविक संवादों से हो जाती है। प्रतापनारायण मिश्र ने बड़े साहस से समाज में फैले अनाचार पर लेखनी उठाई है; यह अना-चार कितना व्यापक है और कब से चला आ रहा है, यह इस नाटक तथा उनकी की रचनाओं का मिलान करने पर स्पष्ट हो जाता है। साथ ही उन्होंने इस अनाचार का सम्बन्ध एक विशेष वर्ग-संस्कृति से जोड़ा है जिसमें पैसे की आराधना मुख्य है। इन पैसा-प्रेमियों की बलहीनता और स्वाभिमान के अभाव की प्रतिक्रिया जैसे गुंडों में प्रकट होती है।

समाज के वही सबसे बड़े शूर हैं! अन्तिम दृश्य में पत्र-सम्पादक शिव नाथ के रूप में प्रतापनारायण मिश्र को हम इस सामाजिक पतन से युद्ध करते हुए पाते हैं। 'साँच को आँच कहा' के भरोसे ही उन्होंने यह सब लिखने का दुःसाहस किया था।

राधाचरण गोस्वामी और उनके दो प्रहसन

भारतेन्दु-युग के एक अत्यन्त प्रतिभाशाली नाटककार राधाचरण गोस्वामी थे। विचारों की उग्रता और प्रगतिशीलता में वह अपने युग के अन्य सभी लेखकों से सम्भवतः आगे थे। इनका व्यंग्यपूर्ण निबन्ध "यमपुर की यात्रा," जिसका उल्लेख आगे किया जायगा, एक उच्चकोटि की रचना है जिससे उनके उग्र और स्वाधीन विचारों का पता लगता है। व्यंग्य के छोटे इधर-उधर अपनी रचनाओं में बहुत लेखक दे सकते हैं परन्तु व्यंग्य, जो शिथिल न हो और हास्य, जिसमें प्रयास न हो, जैसा "यमपुर की यात्रा" में पाया जाता है, वैसा अन्यत्र कम देखा जाता है। इनके नाटकों में "तन मन धन श्रीगुसाईं जी के अर्पण" तथा "बूढ़े मुँह मुहासे" श्रेष्ठ है। इन नाटकों में उस नाटक-परम्परा का पूर्ण विकास हमें मिलता है जिसमें व्यंग्य और हास्य के साथ कथा-वस्तु द्वारा समाज-सुधार की चेष्टा की गई है। वह स्वयं गोस्वामी थे परन्तु "पानी में रहकर मगर से बैर" की चेतावनी से भय न करके इन्होंने गोसाइयों के विरुद्ध अपना प्रहसन लिखा था। "बूढ़े मुँह मुहासे" में इन्होंने किसान और

ज़मींदार के संघर्ष को अपनी कथावस्तु बनाया है और उसमें भी मुसलमान और हिन्दू किसानों की एकता दिखाकर गाँवों के वर्ग-युद्ध और हिन्दू-मुस्लिम समस्याओं पर प्रकाश डाला है।

इन्होंने एक छोटा सा अपना जीवनचरित* लिखा था जिससे उनके चारों ओर के पुरानपन्थी वातावरण का परिचय मिलता है। इनके पिता "वृन्दावन के श्रीराधारमणजी के मन्दिर के गोस्वामी वैष्णव सम्प्रदाय के आचार्य्य और बड़े महात्मा थे।" अग्रवाल वैश्यों की गुरुता, सेवा-पूजा आदि इनकी कुल-वृत्ति थी। पिता ऐसे उदार थे कि बेटे पर प्रतिबन्ध लगा रखा था कि वह भारतेन्दु से न मिल सके क्योंकि भारतेन्दु नास्तिक थे! राधाचरण गोस्वामी ने जासूसी उपन्यास के नायक की भाँति रात को एक बजे दरबान को घूँस दे, घर से बाहर निकल, भारतेन्दु के यहाँ जाकर उनसे भेंट की। आरम्भ में इनको संस्कृत की शिक्षा मिली; उस शिक्षा में व्याकरण की प्रधानता थी और तीन वर्ष तक इनको सारस्वत घोटनी पड़ी। फिर सिद्धान्त कौमुदी, भागवती आदि ग्रन्थ पढ़ने पड़े। संस्कृत हिंदी के साथ इन्हें बँगला, मराठी, गुजराती आदि की भी शिक्षा मिली। १२ साल की अवस्था तक इन्हें अङ्गरेज़ी की शिक्षा न मिली थी परन्तु तब एक अङ्गरेजी स्कूल में संस्कृत परीक्षा देने जाकर इन्हें अङ्गरेज़ी-शिक्षा के प्रति आकर्षण हुआ। अपनी बाधाओं का उल्लेख करते हुए इन्होंने लिखा है, "पाठकों को स्मरण रखना चाहिए कि मैं जिस कुल में उत्पन्न हुआ उसमें अँग्रेज़ी पढ़ना तो दूर है, यदि कोई फारसी अँग्रेज़ी का शब्द भूल से भी मुख से निकल जाय, तो बहुत पश्चात्ताप करना पड़े।" इसलिये इन्होंने छिपकर अँग्रेज़ी पढ़ना आरम्भ किया। कुछ दिन इस तरह पढ़ने पर इन्होंने स्कूल में नाम लिखा लिया परन्तु शीघ्र ही इनका नाम वहाँ से कटवा दिया गया।

"हरिश्चन्द्र मेगज़ीन" और "कविवचन-सुधा" पढ़ने से देशोपकार की ओर इनका मन खिंचा। इन्होंने "कविकुल कौमुदी" सभा स्थापित

* श्रीराधाचरण गोस्वामी का जीवनचरित

की जिसका उद्देश्य "हिन्दी की गद्य पद्य रचना तथा संस्कृत कविता की वृद्धि और व्याख्यान देना था।" सभा स्थापित होने के तीन दिन पहले इनकी स्त्री का देहान्त हो गया परन्तु इन्होंने सभा के कार्य को स्थगित नहीं किया। "सभा हमारे कुल में नई वस्तु थी, इसको अँग्रेजी रीति समझकर हमारे भाइयों ने बहुत विरोध किया, परन्तु हम लोगों ने दृढ़ता और अध्यवसाय को नहीं छोड़ा।" इसी वर्ष इनका दूसरा विवाह हुआ जिसके बारे में इन्होंने स्पष्टता से लिखा है—"प्रथम स्त्री के मरने पर मेरा विचार विवाह करने का नहीं था, परन्तु पितृपाद की आज्ञा, इन्द्रियों के अदम्य वेग और द्वितीय स्त्री के गुणों ने विवश किया।" अपनी स्त्री को स्वयं ही इन्होंने हिन्दी की शिक्षा दी। स्त्री के गुणों की इन्होंने भूरि भूरि प्रशन्सा की है और लिखा है कि उसके बिना वह संन्यासी हो जाते।

हिन्दू धर्म के साथ इन्होंने ईसाई, ब्राह्म आदि मतों का भी अध्ययन किया। इन्होंने एक भजन में वैदिक धर्म के पुनरुत्थान की चर्चा की थी जिस पर भारतेन्दु ने गुप्त रीति से "कवि-वचन-सुधा" में उसका उत्तर छपवाया था। इससे इनके धर्मप्रिय साथियों में बड़ी खलबली मची कि यह सनातन धर्म छोड़कर नये मतों की ओर झुक रहे हैं। इन्होंने भारतेन्दु के उत्तर का प्रत्युत्तर उन्हीं की पत्रिका में छपाया। इससे इनका जी खुल गया और वह अधिक स्वाधीनता से लिखने लगे। इन्होंने स्वामी दयानन्द के ग्रन्थ पढ़े और अनेक बार उनसे बातचीत भी की। वह उनके व्याख्यान सुनने न जा सकते थे क्योंकि कुलधर्म में किसी के नीचे बैठना मना था। पीछे इन्होंने यह कुलधर्म छोड़ दिया। वह विचारों में भारतेन्दु से अधिक उग्र थे और "कवि-वचन-सुधा" में उनसे इनका एक विवाद भी चल चुका था परन्तु हिन्दी और देश की सेवा का लक्ष्य दोनों को ही अति निकट खींच लाया। भारतेन्दु में एक महान् नेता और युग-प्रवर्तक के गुण थे; उनका व्यक्तित्व अत्यन्त प्रभावशाली था। उनकी लगन, देश-प्रेम और त्याग दूसरों को बरबस उनकी ओर खींच लाते थे। ब्राह्मण वातावरण में पोषित राधाचरण गोस्वामी के शब्द इसका प्रमाण हैं। भारतेन्दु के लिये उन्होंने लिखा है:—"उनके लेख ग्रन्थ हमको वेद-

वाक्यवत् प्रमाण और मान्य थे, उनको मानों ईश्वर का एकादश अवतार मानते थे। हमारे सब कामों में वह आदर्श थे, उनकी एक एक बात हमारे लिये उदाहरण थी।"

जीविका के लिये यह गोसाइयों का कार्य करते थे जिसमें इन्होंने सुधार किए। हिन्दी के प्रायः सभी पत्रों में यह लेख लिखते थे जिससे गोसाईं धर्म की नींवें हिल जाती थीं। इनके लेखों की संख्या लगभग २०० तक पहुँची और उन सबकी जिल्द बँधवाकर इन्होंने उन्हें अपने पुस्तकालय में रखा। प्रकाशन के सम्बन्ध में यह सचेत थे। अपनी पुस्तकें स्वयं प्रकाशित करते या प्रकाशक को एक संस्करण का ही अधिकार देते थे। पत्रों का ब्यौरा भी यह सुरक्षित रखते थे। इन्होंने ६२०० के लगभग पत्र लिखे थे। जो मासिक, साप्ताहिक आदि पत्र आते, उनकी फाइल बनाकर रख लेते। "मंजु" नाम से यह कविता लिखते थे परन्तु कविता में शृङ्गार रस की अधिक चर्चा होने से इन्होंने वह सब छोड़ दिया।

सन् १८८२ ई० के शिक्षा कमीशन को इन्होंने हिन्दी-सम्बन्धी मैमोरियल भेजे जिनमें इन्होंने २१,००० के लगभग हस्ताक्षर कराये। प्रयाग में जो हिन्दी-पत्र-सम्पादकों की सभा स्थापित की गई, उसके यह एक वर्ष तक मन्त्री रहे। कलकत्ते की कॉंग्रेस में यह वृन्दावन की ओर से प्रतिनिधि रूप से भेजे गए थे। विलायत-यात्रा और विधवा-विवाह के समर्थन में इन्होंने दो पुस्तकें लिखीं जिससे समाज में इनका विरोध हुआ परन्तु धीरे धीरे वह शान्त हो गया। तीन वर्ष तक म्युनिसिपल कमिश्नर रहे और म्युनिसिपैलिटी के खुशामद, ईर्ष्या और स्वार्थ के वातावरण का अनुभव किया। श्रीरंगजी के मन्दिर में एक मेला होता था जिसमें ईसाई पादरी आकर व्याख्यान देते थे। इन्होंने वहाँ जाकर हिन्दू-धर्म पर व्याख्यान देना आरम्भ किया। सम्भवतः इनका हिन्दू-धर्म बहुतों को प्रिय नहीं था। इसलिए इनके व्याख्यानों का विरोध भी हुआ यद्यपि पादरियों के व्याख्यानों पर कोई कुछ न कहता था। ५-६ वर्ष तक मथुरा की डिवीजनल कॉंग्रेस कमेटी के यह सेक्रेटरी भी रहे। जिस मन्दिर में

रहते थे, उसी में इन्होंने अपना पुस्तकालय भी बनाया था जिसमें ५००० के लगभग पुस्तकें थीं। इसे वह एक सार्वजनिक पुस्तकालय का रूप देना चाहते थे; पता नहीं सफल हुए या नहीं।

स्वाधीन-चेतना, आत्मनिर्भरता, साहस और निर्भयता उनके विशेष गुण थे जो उनके जीवन में भली भाँति प्रकट हुए थे। उनके साहित्य में इन गुणों का अभाव नहीं है। यद्यपि वह प्रतिक्रियावादी वातावरण में पले और बढ़े थे, परन्तु उनकी नस-नस में प्रगति और उदार भावना की ही लहर दौड़ती थी। "तन मन धन श्रीगुसाईंजी के अर्पण" आठ दृश्यों का छोटा सा प्रहसन है। भक्तों के लिए गुसाईंजी को कुछ भी अदेय नहीं है और गुसाईंजी के लिए भक्तों से कुछ भी अग्राह्य नहीं है। गुसाईंजी ने भक्तों की सहायता के लिए एक कुटनी भी नौकर रख छोड़ी है। सुन्दर स्त्रियाँ गुसाईंजी की पूजा करने आती हैं, उनकी सेवाओं के लिए एक विशेष शब्द का प्रयोग किया जाता है—"समर्पण"! सेठ रूपचन्द एक धनाढ्य व्यक्ति हैं जो धन के बोझ से धर्म-भीरु हो गए हैं। पाप की कमाई पचाने के लिये गुरू का आशीर्वाद आवश्यक है। इस आशीर्वाद के लिए गुसाईंजी सेठ की बहू के समर्पण की माँग करते हैं। सेठ और सेठानी दोनों गुसाईंजी की आज्ञा मानने के लिए तैयार हो जाते हैं। जिस समाज के वे रत्न हैं, उसमें ऐसी बातों से संमान घटने के बदले बढ़ता ही है। गुसाईंजी की मनोकामना पूरी होती और सेठ रूपचन्द को आशीर्वाद भी मिल जाता यदि सेठजी के पुत्र गोकुल ने बाधा न डाली होती। उसे नयी शिक्षा की हवा लग चुकी है और यद्यपि माता-पिता उसे सनातन लीक पर ही चलने का बार बार आदेश देते हैं फिर भी वह अपने नये विचारों पर दृढ़ रहता है। अन्त में सेठ बहू को गुसाईंजी के यहाँ भेज तो देते हैं लेकिन गोकुल की कुशलता से गुसाईंजी को हवालात की हवा खानी पड़ती है।

गुसाईंजी, रामा कुटनी, सेठ रूपचन्द, नवशिक्षित गोकुल आदि की बातचीत व्रजभाषा का पुट लिए हुए बड़ी स्वाभाविक बन पड़ी है। नाटककार की सहानुभूति नवशिक्षा से प्रभावित नई पीढ़ी के साथ है।

पुरानी लकीर के फ़क़ीर समाज के बड़े बूढ़ों से इस नयी पीढ़ी ने संग्राम छेड़ दिया था; उसी की एक झलक इस नाटक में दिखाई गई है। वार्तालाप पर सब कहीं हास्य का गहरा रंग चढ़ा हुआ है।

"बूढ़े मुँह मुहासे" में दो अङ्क हैं और प्रत्येक अङ्क में दो दृश्य हैं। एक बड़े भगवद्भक्त जमींदार हैं लाला नारायनदास। उनका एक आसामी है मौला। उसकी स्त्री बड़ी सुन्दर है परन्तु मुसल्मानिन होने से लाला नारायनदास बड़े धर्मसंकट में पड़ गये हैं। उनका नौकर कल्लू उसकी प्रशन्सा के पुल बाँधकर उनके धर्मसंकट को और भी कंटकमय बना देता है। लाला सोचते हैं, पहले मौला की स्त्री आ तो जाये फिर भगवान से निपट लिया जायगा। वह कल्लू को उसे उड़ाने की व्यवस्था करने के लिए कुछ धन देकर विदा करते हैं। इसी समय विद्याधर नाम का एक किसान आता है उसकी ज़मीन लालाजी ने अपने बाग़ में दबा ली है; बदले में उसे कुछ नहीं दिया है। माँ की मृत्यु होने पर वह काम-काज के लिए दो चार रुपये उधार माँगने आता है। लालाजी के पास उसकी सहायता के लिए एक पाई भी नहीं है। वह अपना सा मुँह लेकर चला जाता है। उधर मायके आई हुई तेली की लड़की को देख कर लाला के सरस कण्ठ से कविता फूट पड़ती है—

"गई न सिसुता की झलक, झलक्यो जोवन अंग।
दीपत देह दुहून की, मनो ताफता रंग॥"

लालाजी के मुँह से इस प्रकार के अनेक दोहे कहलाकर लेखक ने यह बात स्पष्ट कर दी है कि साहित्य की वह परम्परा उतनी ही प्रगतिशील है जितने कि स्वयं लाला नारायनदास हैं। राम का नाम लेकर लालाजी प्रतिज्ञा करते हैं, अर्जुन ने १८ दिन में ११ अक्षौहिणी सेना का वध किया था तो क्या लाला नारायनदास एक महीने में एक तेली की लड़की को भी वश में नहीं कर सकेंगे। अवश्य, अवश्य करेंगे।

कल्लू अपनी मौसी को मौला के यहाँ भेजता है। मुसलमान के घर जाकर वह बहुत नाक भौं सिकोड़ती है। तीस बरस से वह कुटनी का काम करती रही है और न जाने कितनी बहू-बेटियों को उसने

खराब किया है परन्तु आज का सा धरमसंकट उसे पहले कभी नहीं पड़ा। मौला की स्त्री छन्नो को फुसलाने के लिए यह २५) भेंट करती है जिसमें से ४) अपनी दस्तूरी के काट लेती है। छन्नो बहुत लज्जित होने का अभिनय करती है। कुटनी कहती है—"ऐसी तू कौन सी बाम्हन बनिया है जो इतनी डरे है।" यद्यपि लालाजी और उनकी कुटनी की दृष्टि में मुसलमान के लिए इज्जत आबरू का सवाल नहीं उठता फिर भी किसान दूसरों की इज्जत आबरू को अपनी इज्जत आबरू के बराबर समझते हैं चाहे वे हिन्दू हों चाहे मुसलमान। विद्याधर एक इमली कटाने के लिए मौला को बुलाने आता है। उस समय तक क़ायदे आज़म का जन्म न हुआ था और हो गया था तो वे अभी शैशवकाल की तुतली बोली में ही पाकिस्तान की रट लगा रहे थे जिससे मौला ने पाकिस्तान में अपने सब दुख दूर हो जाने के भरोसे न बैठ कर विद्याधर से ही अपने घर का भेद बता दिया, किस प्रकार लाला उसकी आबरू लेने पर उतारू थे और किस प्रकार उसकी स्त्री ने पीछा छुड़ाने के लिए कुटनी से हामी भर ली थी। विद्याधर और मौला ज़मींदार के विरुद्ध एक हो जाते हैं और लाला को अच्छी शिक्षा देने की तरक़ीब सोचे लेते हैं।

दूसरे अंक में लाला नारायनदास के धर्मसंकट पर और प्रकाश पड़ता है। उनका लड़का इलाहाबाद में पढ़ता है। उससे बातचीत करके लालाजी समझते हैं कि आधुनिक शिक्षा से हिन्दू धर्म रसातल को चला जा रहा है। हिन्दू लड़के मुसलमान बावर्चियों के हाथ का खा लेते हैं, इससे अधिक पतन और क्या हो सकता है। उनका नौकर कल्लू उचित ही टिप्पणी करता है:—"मुसलमान की रोटी खाने से तो जात जाय वाको लुगाई रखने से कछू नाय!" खान पान तथा हिन्दू-मुस्लिम सम्बन्धी भेद-भाव के बारे में राधाचरण गोस्वामी की राय क्या थी, इस पर उनका सुन्दर व्यंग्य देखते हुए किसी को सन्देह नहीं हो सकता। सर्वत्र उन्होंने आधुनिक शिक्षा का समर्थन किया है। मुँह में राम बगल में छुरी रखने वाले नारायनदास जैसे लोगों के प्रति उनकी

घृणा भी स्पष्ट है। लालाजी अपने धर्मभीरु मन को यह कह कर सन्तोष देते हैं कि "शास्त्र में लिखा है कि यौवन में कुकुरी भी धन्य है।" फिर यह तो दो हाथ पैर वाली अन्य स्त्रियों की भाँति ही एक स्त्री है। पिता और पुत्र में बातचीत होते होते मन्दिर मे शंख, घण्टा आदि की ध्वनि होने लगती है।

लालाजी के मन्दिर में पूजावन्दन के लिये जाने पर—मानों पाप के पहले शरीरशुद्धि करने गये हों—उनका नौकर कल्लू थोड़ी देर के लिये उनकी गद्दी का सुख लूटता है। लाला की नकल करता हुआ वह दूसरे नौकर गणेशी को बुलाता है। गणेशी के आने पर वह उससे चिलम मँगाता है और लाला की गद्दी पर बैठ कर एक बार जनम सफल कर लेने में उससे सहायता माँगता है। लाला की फर्शी आने पर कल्लू तकिये का सहारा लेकर उसे गुड़गुड़ाता है और आनन्द को चरमसीमा तक पहुँचा देने के लिये गणेशी से पैर दाबने को कहता है। गणेशी की वर्ग-सहानुभूति यहाँ उसका साथ नहीं देती; सारा मजा कल्लू लूटे और गणेशी केवल पैर दाबता रहे, यह उसे सहन नहीं है। जब कल्लू वादा करता है कि बदले में वह भी गणेशी के पैर दाबेगा, तब गणेशी का हृदय पसीजता है और वह कल्लू के आनन्द को चरमसीमा तक पहुँचाने में सहायक होता है। एक ओर फर्शी गुड़गुड़ाना और दूसरी ओर गद्दी और तकियों पर गणेशी से पैर दबवाना, कल्लू का सुख ब्रह्मानन्द सहोदर को मात कर रहा है कि इसी समय दूर से पूजापाठ से निवृत्त, छन्नो के ध्यान में मग्न, अतर फुलेल से सजे बजे लाला का प्रवेश होता है और कल्लू का आनन्द रहस्यात्मक अनुभूति की तरह क्षण में ही उसे छोड़कर कहीं बहुत दूर शून्य में विलीन हो जाता है। यह पुराने मन्दिर में लालाजी का संकेतस्थल है। कल्लू से कहे जाते हैं कि कोई उन्हें पूछने आये तो कह दे कि वह मन्दिर में जप कर रहे हैं! एक घोर यथार्थवादी की भाँति लालाजी इत्र लेना नहीं भूले जिसे वह छन्नो के मुँह पर प्याज की बदबू आने पर मल देंगे।

मन्दिर के पास मौला और विद्याधर, एक हिन्दू और दूसरा

मुसलमान लेकिन दोनों किसान, जमींदार नारायनदास की बाट जोह रहे हैं। कल्लू की मौसी के साथ छन्नो आती है। प्रथम अभिसार में वह संकोच नाट्य करती है। मौसी समझाती है कि मुसलमान के न जात न पाँत; छन्नो के बड़े भाग जो वह लाला की नजर में चढ़ी है। लालाजी को गोपाल की बुद्धि पर आश्चर्य होता है जिन्होंने छन्नो को ललाइन न बनाकर मौलाइन बना दिया; सोचते हैं कि काबुल में मेवा बनाई और व्रज में टेंटी के फूलों से ही सन्तोष कर लिया, तब छन्नो को मौलाइन बनाने में क्या आश्चर्य? एक पूर्वी गीत गाते हुए वह मन्दिर में जाने की तैयारी करते हैं कि मौला एकाएक आक्रमण कर देता है। विद्याधर भी "करम गति टारे नाहीं टरी" गाता हुआ आ जाता है। लाला अपनी इज्जत आबरू छिपाये रखने के लिये मौला और विद्याधर से बहुत गिड़गिड़ाते हैं। उन्हें विद्याधर को उसकी जमीन वापस करने का वचन देना पड़ता है और मौला को दो सौ रुपये की घूस देकर वह उसका मुँह बन्द करते हैं। इस प्रकार इस नाटक का अन्त होता है।

भारतेन्दु-युग के नाटकों में राधाचरण गोस्वामी की यह रचना श्रेष्ठ है। इसका सा नपातुला व्यंग्य, सधा हुआ शिष्ट हास्य, गठा हुआ कथानक, स्वाभाविक वार्तालाप आदि अन्य नाटकों में भी मिलेंगे परन्तु हिन्दू-मुसलमान किसानों की एकता और जमींदार के प्रति उनकी विद्रोह-भावना हिन्दी साहित्य में नयी है। १६ वीं सदी के अन्य भाषाओं के साहित्य में भी यह आधुनिक दृष्टिकोण ढूँढ़ने से ही मिलेगा। भारतेन्दु-युग नवीन चिन्तन और नवीन प्रयोगों का युग था। एक ओर उसमें महारानी विक्टोरिया का गुणगान और समस्यापूर्ति है तो दूसरी ओर आर्थिक और राजनीतिक समस्याओं पर क्रान्तिकारी ढंग से प्रकाश भी डाला गया है। कुछ लोगों ने भारतेन्दु-युग के प्रतिक्रियावादी पहलू को इतना महत्व दे दिया है कि उसकी अन्य महत्वपूर्ण बातें देखने का उन्हें अवसर ही नहीं मिला। हिन्दू-मुसलमान तथा किसान-जमींदार समस्याओं का जैसा विवेचन युग-चेतना ने किया था,

यह इस नाटक से स्पष्ट है। राधाचरण गोस्वामी काँग्रेस के एक उत्साही कार्यकर्ता थे परन्तु उनके राजनीतिक और सामाजिक विचार उस समय के साधारण काँग्रेस नेताओं को बहुत पीछे छोड़ चुके थे। भारतेन्दु-युग के पद्य-साहित्य में भी हम यह बात देख चुके हैं कि नेता जिस बात को मुँह से कहने में डरते थे, उसे हिन्दी लेखक स्याही से लिखकर छपवा देने में संकोच न करते थे। इस प्रकार राधाचरण गोस्वामी का नाम उन महान् साहित्यिकों में लिया जायगा जो साहित्य में सामाजिक और राजनीतिक आन्दोलनों को प्रतिबिम्बित करके ही नहीं बस करते वरन् साहित्य में वह प्रेरणा भर देते हैं जो ऐसे आन्दोलनों का सूत्रपात करती है और उन्हें निश्चित लक्ष्य तक पहुँचाने में सहायक होती है।

निबन्ध-रचना—अद्भुत स्वप्न और यमपुर की यात्रा

भारतेन्दु-युग में पत्र-साहित्य ने जो उन्नति की, उससे निबन्ध-रचना को विशेष प्रोत्साहन मिला। निबन्ध का रूप और आकार अभी अस्थिर था परन्तु इसीलिये कहानी से लेकर गम्भीर चिन्तन तक का माध्यम वह बन सका। निबन्ध लिखना हिन्दी में नई चीज़ थी। बंगला में उपन्यास, कविता, नाटक आदि के लिये आदर्श मिल सकते थे, परन्तु प्रतापनारायण मिश्र आदि के से निबन्ध हिन्दी की अपनी उपज थे। राजा शिवप्रसाद सितारेहिन्द का लिखा "राजा भोज का सपना," भारतेन्दु का "एक अद्भुत अपूर्व स्वप्न", राधाचरण गोस्वामी की "यमपुर की यात्रा" और प्रतापनारायण मिश्र का "आप" निबन्ध-रचना के वैचित्र्य को भली भाँति प्रकट करते हैं। जितनी सफलता भारतेन्दु-युग के लेखकों को निबन्ध-रचना में मिली, उतनी कविता और नाटक में भी नहीं मिली। इसका एक कारण यह था कि पत्रिकाओं में नित्य प्रति निबन्ध लिखते रहने से उनकी शैली खूब निखर गई थी। दूसरी बात यह कि निबन्ध ही एक ऐसा माध्यम था जिसके द्वारा उस युग के

धड़क लेखक बेतकल्लुफी से अपने पाठकों से बात कर सकते थे। जैसे प्रतापनारायण मिश्र का अपने पाठक से कहना—"ले भला बतलाइये तो आप क्या हैं?" निबन्ध को छोड़कर साहित्य के और किसी अङ्ग में सम्भव नहीं था। उस युग के लेखक तटस्थ रहते हुए अपनी बात पाठक से कहकर सन्तोष न कर सकते थे। वे उससे आत्मीयता का सम्बन्ध स्थापित करना चाहते थे और एक मित्र की भाँति उससे घुल मिलकर उसे अपनी बात समझाना चाहते थे। द्विवेदी युग में लेखकों और पाठकों दोनों ही में प्रतिष्ठा की भावना बहुत अधिक आ गई। लेखक का पाठक से पूछना "ले भला बतलाइये आप क्या हैं?" स्वप्न में भी प्रायः असम्भव हो गया। साहित्य की सची सप्राणता उसी शैली में है जहाँ लेखक और पाठक के बीच कोई दुराव नहीं रह जाता। सहज आत्मीयता के भाव ने भाषा को खूब स्वाभाविक बना दिया। कृत्रिम शैली में लेखक पाठक का आत्मीय बन ही नहीं सकता। इसीलिये भारतेन्दु-युग की गद्य-शैली के सबसे चमत्कारपूर्ण निदर्शन निबन्धों में ही मिलते हैं।

उस युग के निबन्धों को एक साथ पढ़ने से एक अत्यन्त उदार और स्वाधीन चेतना की छाप पाठक के हृदय पर रह जाती है। निबन्ध को तब के लेखकों ने एक ऐसा रोचक और उपयोगी माध्यम बनाया था, जिसके द्वारा वह देश में एक नवीन मानव धर्म का प्रचार कर सकते थे। मुल्ला, पण्डित, वैदिक कर्मकाण्ड, तीर्थ, व्रत, पूजा, सभी पर इन लेखकों ने व्यंग्य किया है। यह उदार चेतना किसी एक लेखक की अपनी नहीं है; यह बड़े छोटे सभी लेखकों में पाई जाती है। युगभावना के अत्यन्त शक्तिशाली होने का सबसे बड़ा प्रमाण यह है कि राजा शिवप्रसाद सितारेहिन्द जैसे व्यक्ति भी उसके प्रभाव से बचे न रह सके।

"राजा भोज का सपना" भारतेन्दु-युग की एक उत्कृष्ट रचना है। इसके लेखक सितारेहिन्द थे। चार्ल्स लैंब के कुछ निबन्धों की भाँति इसमें कथा का अंश काफी है परन्तु उसे कथा इसलिये नहीं कहा जा सकता कि उसका गठन एक निबन्ध जैसा है और शैली भी निबन्धवाली

ही है जैसे—"यह कौन सा मनुष्य है जिसने महाप्रतापी महाराज भोज का नाम न सुना हो।" लेखक का उद्देश्य यह दिखाना है कि मानवीय सहानुभूति के बिना धर्म-कर्म सब ढोंग हैं; मानव-प्रेम को अपने जीवन में चरितार्थ करने में ही मनुष्य-जीवन की सार्थकता है। राजा भोज ने बड़ा दानपुण्य किया है, परन्तु अपनी कीर्ति के विचार से। स्वप्न में वह देखते हैं कि दान-पुण्य की माया ऊपरी चमक दमक खोकर अपने नग्न बीभत्स रूप में प्रकट हो जाती है। कीर्ति के लिये ही दान करने से दान के वास्तविक अधिकारी वञ्चित रह जाते हैं। एक मंदिर के दर्पण में राजा भोज को अपने राज्य की वास्तविक दशा दिखाई देती है। "कभी तो राजा को वे सब भूखे और नंगे इस आईने में दिखलाई देते जिन्हें राजा खाने-पहनने को दे सकता था, पर न देकर दान का रुपया उन्हीं हट्टे-कट्टे मोटे-मुसन्ड खाते पीतों को देता रहा जो उसकी खुशामद करते थे या किसी की सिफ़ारिश ले आते थे।.........कभी वे दीन दुखी दिखलाई देते जिन पर राजा के कारदार जुल्म किया करते थे और उसने कुछ भी उसकी तहकीकात और उपाय न किया।.........कभी-कभी उन गाँव और इलाक़ों को देखता था जिनमें कुएँ, तालाब और किसानों को मदद देने और उन्हें खेती-बारी की नई-नई तरकीबें बतलाने से हज़ारों ग़रीबों का भला कर सकता था।"

वास्तविक दान, वास्तविक धर्म, मनुष्य की मनुष्य के प्रति सहानुभूति में है; इसीलिये धर्म का रहस्य पण्डितों के पास न होकर मनुष्य के हृदय में है। राजा भोज स्वप्न में अपने अहङ्कार का अनुभव करके नगर के तीन सर्वश्रेष्ठ पण्डितों को बुलाते हैं कि वे उन्हें मुक्ति का मार्ग बतादें, परन्तु कोई भी पण्डित राजा का शङ्का-समाधान नहीं कर पाता। पण्डितों के साथ आया हुआ एक साधारण परदेसी राजा से कहता है कि वह अपनी राह स्वयं ही ढूँढें, वह उन्हें मिलेगी। इस निबन्ध में कल्पना का कोई विशेष चमत्कार नहीं है। राजा स्वप्न में अपने राज्य की दशा देखता है और अपने ही भीतर धर्म का रहस्य ढूँढता है। बात बहुत सीधी है और उसका यह सीधापन ही पाठक के हृदय

पर अमिट प्रभाव की छाप डाल जाता है। भोज ने जो मन्दिर बनवाया था उसमें उसने ईश्वर की मूर्ति स्थापित की थी; सत्य ने उसे दिखाया कि वह प्रस्तरमूर्ति भोज की ही थी। इस प्रकार की बातें बड़े रोचक और प्रभावपूर्ण ढंग से इस निबन्ध में आई हैं।

भारतेन्दु के "एक अद्भुत अपूर्व स्वप्न" में व्यंग्य और हास्य अधिक निखरा हुआ है और शैली भी अधिक मँजी हुई है। आरम्भ में गम्भीर शैली का आभास है और यह आभास देकर हास्य रस की सृष्टि की गई है। "देखो समय-सागर में एक दिन सब संसार अवश्य मग्न हो जायगा। कालवश शशि सूर्य भी नष्ट हो जायँगे" इत्यादि। इसी के बाद पहले जैसी गम्भीरता से ही वह कह जाते हैं—"फिर पड़े-पड़े पुस्तक रचने की सूझी। परन्तु इस विचार में बड़े काँटे निकले। क्योंकि बनाने की देर न होगी कि कीट-क्रिटिक काटकर आधी से अधिक निगल जायँगे।" इस प्रकार की शैली से हास्य उत्पन्न करना परन्तु उसे ऊपर गम्भीर बनाये रखना उतना ही कठिन है जितना दूसरों को हँसाते हुए स्वयं मुँह बन्द रखना कठिन है। स्वप्न में जैसे अतिरंजित बातें दिखाई देती हैं, वैसे ही उन्हीं के अनुरूप अतिशयोक्तिपूर्ण इसकी शैली है। "आँख बन्द कर समाधि लगाई तो इकसठ या इक्यावन वर्ष उसी ध्यान में बीत गये। पाठशाला बनाने का विचार करके जब थैली में हाथ डाला तो केवल ग्यारह गाड़ी ही मुहरें निकलीं। इष्ट मित्रों से सहायता ली तो इतना धन एकत्र हो गया कि ईंटों के ठौर मुहर चुनवा देने पर भी दस पाँच रेल रुपये बच रहते। आधी रात को पाठशाला का उद्घाटन हुआ।" उस समय सब इष्टमित्रों के सम्मुख उस परमेश्वर को कोटि धन्यवाद दिया, जो संसार को बनाकर क्षण भर में नष्ट कर देता है, और जिसने विद्या, शील, बल के सिवाय मान, मूर्खता, परद्रोह, परनिन्दा आदि परम गुणों से इस संसार को विभूषित किया है।" स्वप्न की पाठशाला का उद्घाटन करते समय संसार की क्षणभंगुरता को याद करना संकेतपूर्ण है। जो लोग परमात्मा में मानवीय गुणों को ही देखते हैं, उन्हें भारतेन्दु याद दिलाते हैं कि मानवीय दुर्गुण भी परमात्मा के ही बनाये हुए हैं।

विद्यालयों के नाम से जो लोग चन्दा इकट्ठा करके अपना पेट भरते हैं, उनका खूब मखौल उड़ाया गया है। पाठशाला बनवाने के लिये इतना द्रव्य आया कि दस पाँच पीढ़ी तक के लिये प्रबन्ध हो गया। कहीं कहीं पर भारतेन्दु ने इतना सुन्दर शब्द-चयन किया है कि कविता के समान वे पंक्तियाँ अमर सी हो गई हैं। "धन्य है उस परमात्मा को जिसने आज हमारे यश के डहडहे अंकुर फिर हरे किये।" उद्घाटन करते समय का व्याख्यान भी किसी यथार्थ भाषण की पैरोडी जैसा लगता है। पुलिस, कचहरी आदि पर मौका मिलते ही भारतेन्दु व्यंग्य करना नहीं चूकते। विद्यालय के नीतिशास्त्र के अध्यापक पं० शीलदावानल नीतिदर्पण की प्रशन्सा करते हुए कहते हैं—"इनसे नीति तो बहुत से महात्माओं ने पढ़ी थी, परन्तु वेणु, बाणासुर, रावण, दुर्योधन, शिशुपाल, कंस आदि इनके मुख्य शिष्य थे। और अब भी कोई कठिन काम आकर पड़ता है, तो अँगरेजी न्यायकर्ता भी इनकी अनुमति लेकर आगे बढ़ते हैं।"

सितारेहिन्द की रचना में शिक्षा अधिक है, हास्य कम; भारतेन्दु के अद्भुत अपूर्व स्वप्न में हास्य अधिक है, शिक्षा कम। यह एक मस्ती और मौज की लिखी चीज है जिसमें परिश्रम का कहीं चिह्न नहीं है। अतिशयोक्तियाँ और अतिरंजित चित्र एक सहज गति से एक के बाद एक पाठक के सामने आते जाते हैं। गम्भीर शैली और हास्य का सामञ्जस्य स्वप्न की ही भाँति अद्भुत और अपूर्व है। किसी विशेष लक्ष्य को सामने रखकर *व्यंग्य-शर* नहीं साधे गये। दाँए बायें जो जिधर दिखाई पड़ा, उसी पर कौशल अजमाते हुए भारतेन्दु आगे बढ़ते गये हैं। शैली उनकी सधी हुई है और शब्दचयन में वैसी सतर्कता है जैसी कविता में होती है। इस तरह से निबन्धों से पता चलता है कि भारतेन्दु की प्रतिभा का चमत्कार जितना निबन्ध-रचना में प्रकट हुआ है, उतना नाटकों में भी नहीं।

राधाचरण गोस्वामी की "यमलोक की यात्रा" में भी एक स्वप्न में देखी हुई बातों का विवरण है। यह स्वप्न पहले दो स्वप्नों से लम्बा

तो है ही, व्यंग्य और हास्य में भी यह दोनों से बाजी मार ले गया है। "यमलोक की यात्रा" में उस समय की घटनाओं, आन्दोलनों आदि का बहुतायत से उल्लेख है। इसका व्यंग्य राजनीतिक दमन, सामाजिक दुराचार आदि विशेष लक्ष्यों की ओर प्रेरित है। पचीस वर्ष की ही अवस्था में ज्वर से स्वप्नदृष्टा की मृत्यु होने लगती है और नादिरशाह की सूरत के यमदूत उसे लेने आ जाते हैं। उसे इस बात से विशेष खेद होता है कि विधवा विवाह को प्रचलित होते अभी नहीं देखा, "न विलायत जाने की रोक उठी। न जाति-पाँति का झगड़ा मिटा!" इन शब्दों से लेखक का सामाजिक ध्येय स्पष्ट है। और "न हमारे जीते जी प्रेस एक्ट उठा। न लाइसेन्स टैक्स का काला मुँह हुआ।" प्रेस एक्ट पर राधाचरण गोस्वामी की विशेष अप्रसन्नता थी; उस पर उन्होंने अनेक स्थलों पर छींटे कसे हैं। काबुल की लड़ाई का परिणाम देखे बिना ही दुनिया से चल देना पड़ा। जब वैतरणी पहुँचे तब यमराज के प्रधान का सामना करना पड़ा। बाकायदा उनकी कचहरी लगी हुई है। प्रधान जी के सिर पर मारवाड़ी पगड़ी है! माथे पर रामफटाका तिलक लगाये हैं और उनके चारों ओर बड़ी बड़ी बहियाँ खोले उनके गुमाश्ते लोग बैठे हैं। मानों यमराज के प्रधान की कचहरी न होकर किसी मारवाड़ी सेठ की ही दुकान हो! यानी जब इहलोक में मारवाड़ी सेठ की कोठी देखो तो परलोक में यमराज की कचहरी की कल्पना कर लो।

वैतरणी पार करने के समय प्रधान ने पूछा—गोदान किया है। उत्तर दिया—गोदान लिये हैं परन्तु किया एक भी नहीं। इस पर प्रधानजी ने उन्हें निकाल देने की आज्ञा दी। तब इन्होंने विनती की—"साहब, प्रथम प्रश्न सुन लीजिये; गोदान का कारण क्या है? यदि गौ की पूँछ पकड़कर पार उतर जाते हैं, तो क्या बैल से नहीं उतर सकते। जब बैल से उतर सकते हैं, तो कुत्ते ने क्या चोरी की?" बात यह थी कि इन्होंने मजिस्ट्रेट साहब की मेम को एक कुत्ता भेंट किया था। यह सोचकर कि जब गौ यहाँ आ जाती है तो क्या कुत्ता न आयेगा, इन्होंने सीटी बजाई और तुरन्त रतन नाम का कुत्ता कचहरी के लोगों

को हटाता हुआ इनके पास आ पहुँचा। प्रधान ने इस पर इन्हें वैतरणी में ढकेल देने की आज्ञा दी। "मैंने जी में सोचा, यहाँ अन्धेर नगरी और हिन्दुस्तानी घिसघिस है; विवेक विचार कुछ नहीं।" इसलिये रतन कुत्ते को पुकार कर भम् से वैतरणी में कूद पड़े और उसकी पूँछ पकड़े तैरते हुए नदी के पार हो गये।

१४ जून सन् १८८० के "सारसुधानिधि" में यह यात्रा छपनी शुरू हुई थी। आज से ६२ वर्ष पहले इस प्रकार की बातें लिखना दुःसाहस मात्र था। परन्तु यह वही युग था जिसमें स्वामी दयानन्द ने जन्म लिया था। राधाचरण गोस्वामी स्वामीजी के विरोधियों में से थे परन्तु उनका विरोध अन्य सनातनधर्मियों जैसा न था। वह आधुनिक संस्कृति के व्यक्ति थे, इसलिए कट्टरपन से उनका वैर होना स्वाभाविक था। जो व्यक्ति गोसाइयों के परिवार में पलकर वैतरणी को कुत्ते की सहायता से पार करने की बात सोच सकता था, वह वेदों को अपौरुषेय कैसे मान सकता था? फिर भी स्वामी दयानन्द की मृत्यु के बाद राधाचरण ने उनके अन्य विरोधियों को बड़ी तीखी फटकार बताई थी।

यमपुर का बाजार जयपुर सा, गलियाँ बनारस की सी, इमारतें दिल्ली और आगरे की सी हैं। भूख लगी थी; हलवाई की दुकान में इमरतियों का थाल देखकर लालच लग आया। सोचा, फिर तो मर सकते नहीं, क्यों न हाथ साफ किया जाय, इमरतियाँ लेकर भागे। एक साधु बैकुण्ठ गए थे परन्तु वहाँ चिलम तमाखू न पाकर बहुत निराश हुए। यमपुर में इस सब का प्रबन्ध है। धर्मराज की कचहरी के बाहर तिलंगे सिपाही भाँग तमाखू को पूछते हैं और उन्हीं में से एक बूढ़ा यमपुर का महत्त्व बताते हुए कहता है—

"साधु गयल बैकुण्ठ के, मन ही मन पछताय।
इहाँ रह के का करबो, इहाँ चिलम तमाखू नाय॥"

कुछ पुरबियों ने, जो सन् ५७ के विद्रोह में काम में आये थे, इन्हें नरक दिखाने के लिये एक आदमी साथ कर दिया। नरक क्या था, चौरासी लाख जीवों का म्यूजियम था।

आलमारियों में जीव थे और बाहर उनका विवरण लिखा था। सबसे मजेदार बात यह कि गोरे काले का भेद यहाँ भी था। "गोरे जीव के आगे मेज, टेबुल आदि लगी हुई, और चाय, कॉफी, बिस्कुट आदि धरा था। काले के वास्ते टाट और टूटी खाट और पुराना धुराना हुक्का और कूँड़े में रोटी।"

जनता में जागृति फैलाने के इस तरह के विचित्र साधन भारतेन्दु-युग के लेखकों ने अपनाये थे। ऐसी हास्यप्रधान शैली से प्रचार का अधिक सफल साधन पाना भी कठिन है। इटली के प्रसिद्ध कवि दान्ते ने अपने शत्रुओं को चुन चुन कर नरक में स्थान दिया था; राधाचरण गोस्वामी ने भी नरक में विशेष कोटि के प्राणियों को स्थान दिया है। कहते हैं—"हमारे बहुत से राजों, बादशाहों, नवाबों, काजियों, पण्डितों की, सब कोतवालों, तहसीलदारों और दूसरे हुक्कामों की कैफियत देखने लायक थी। नीचों मार किए बैठे थे और पछताते थे कि हाय, हमने क्यों प्रजा पर जुल्म किया।" इन वाक्यों से राधाचरण गोस्वामी के उग्र विचारों पर यथेष्ट प्रकाश पड़ता है। बीसवीं सदी के प्रगतिशील लेखकों ने संघबद्ध धर्म, उच्च वर्गों के स्वार्थ और शोषक अधिकारियों के प्रति जो आन्दोलन आरम्भ किया है, उसकी एक बहुत तेज झलक राधाचरण गोस्वामी में हमें मिलती है। नया विचार, नया विचार-प्रकाशन का ढंग, उन्होंने दोनों में ही अपनी चिन्तन-शक्ति और तीक्ष्ण रचनात्मक प्रतिभा का परिचय दिया है। कल्पना से उन्होंने अपनी कथा को काफी गढ़ा और सजाया है। वैतरणी में रतन के कूदने और नरक में सरकारी हाकिमों और पुलिस कर्मचारियों को रखने का विचार भारतेन्दु की भी कल्पना के बाहर था।

राधाचरण गोस्वामी अपने युग के सबसे उग्र विचारों के लेखक मालूम पड़ते हैं और अपने उग्र विचारों को प्रकट करने के लिए नये-नये ढंग खोज निकालने की प्रतिभा भी उनमें खूब दिखाई देती है। "यम-लोक की यात्रा" जन-साहित्य का एक बड़ा सुन्दर उदाहरण है। भाषा इसकी बोलचाल की है। भारतेन्दु के "अद्भुत अपूर्व स्वप्न" में एक

गम्भीर शैली का आभास दिया गया है। राधाचरण अपनी सरपट शैली में पाठक को छोटी-छोटी बातों पर नुक्ताचीनी करने और वाह-वाह करने का अवसर ही नहीं देते। भारतेन्दु ने यदि कटार से खेल दिखाया है, तो इन्होंने तलवार से भरपूर वार किए हैं जिनके बारे में दुविधा हो ही नहीं सकती। अन्धे से अन्धा पाठक भी देख सकता है कि वार भरपूर बैठा है। उनके व्यंग्य और हास्य पर पाठक मुस्करा कर न रह जायगा, वह जोर से खिलखिलाकर हँस पड़ेगा क्योंकि उस गुदगुदी से हँसी रोक लेना असम्भव है। हँसी से उनके आक्षेपों की कटुता कम नहीं हो जाती। नरक में गोरे काले जीवों के लिए, मेज, कुर्सी और टूटी खाट का प्रबन्ध करके उन्होंने अपने दिल की आग को थोड़े से शब्दों में भली भाँति प्रकट कर दिया है। जो लोग समझते हैं कि प्रचार के लिए उच्चकोटि का साहित्य नहीं रचा जा सकता, या हिन्दी के लिये प्रगति की परम्परा अनोखी है, या हिन्दी वालों को प्रगतिशील साहित्य लिखने के लिए विदेशों का मुँह ताकने के बदले अपने देश में कुछ है ही नहीं, वे एक बार "यमलोक की यात्रा" पढ़ें तो उनकी सभी शंकाएँ दूर हो जायँगी।

———

स्वर्ग में केशवचन्द्र सेन और स्वामी दयानन्द

भारतेन्दु का एक रोचक निबन्ध है—"स्वर्ग में विचार-सभा का अधिवेशन।" जिस मानव-वाद और उदार चेतना की हम अभी बात कर रहे थे, उसकी व्यंजना इस निबन्ध में अच्छी तरह हुई है। भारतेन्दु वर्णाश्रम धर्म को माननेवाले बहुत कुछ पुराने ढंग के हिन्दू थे परन्तु वह नये विचारों को अपनाने में संकोच नहीं करते थे। वह स्वामी दयानन्द के विरोधियों में थे, फिर भी सनातन धर्मी उनसे प्रसन्न न थे और दयानन्द की भाँति उन्हें भी क्रिस्तान की उपाधि से विभूषित करते थे। इससे उस युग के धर्माधीशों की कट्टरता का पता लगता है। "स्वर्ग में विचार-सभा का अधिवेशन" करवा के उन्होंने स्वामी दयानन्द और केशवचन्द्र सेन के प्रति अपनी धारणा को स्पष्ट शब्दों में प्रकट किया है। राधाचरण गोस्वामी की तरह अनेक बातों में इन दोनों के विरोधी होते हुए भी भारतेन्दु ने उनकी देश-सेवा में सन्देह नहीं प्रकट किया वरन् उनकी मुक्त कंठ से प्रशंसा ही की है।

स्वामी दयानन्द और केशवचन्द्र सेन दोनों ही स्वर्ग जाते हैं परन्तु अनेक स्वर्गवासी सज्जन जो इनके नरक जाने से अधिक प्रसन्न होते, इनके स्वर्ग में प्रवेश पाने से बुरी तरह चिढ़ जाते हैं। कुछ लोग इनके पक्ष में भी हैं जिससे स्वर्ग में कंसरवेटिव और लिबरल दो दल हो जाते हैं। कंसरवेटिव लोगों में वे ऋषि मुनि हैं जो यज्ञ करके या तपस्या में अपना तन सुखाकर स्वर्ग पहुँचे थे। लिबरल दल में वे लोग हैं जिन्होंने अपनी आत्मा की उन्नति से या भक्ति से या सामाजिक कार्यों से स्वर्ग लाभ किया था। स्वर्ग के लिबरल और कंसरवेटिव इहलोक के अपने नाम-रासी दलों की ही प्रतिच्छाया या पैरोडी हैं। वैष्णव लोग पहले उदार दल के थे परन्तु बाद में रेडिकल हो गये और "अब ये लोग 'रेडिकल्स' क्या महा महा रेडिकल्स हो गए हैं।" भारतेन्दु वास्तव में अपने को इस रेडिकल दल में *गिनते* थे।

भारतेन्दु कुछ विशेष कारणों से वैष्णव धर्म को उदार और रेडिकल मानते थे। हिन्दू धर्म में कबीर, दादू, नानक आदि जो विद्रोही उत्पन्न हुए हैं, उनको वह "वैष्णवता" का ही प्रतिनिधि मानते थे। उनके निबन्ध "वैष्णवता और भारतवर्ष" में इस सुधारक परम्परा का विशेष विवेचन किया गया है। इन सन्तों का हिन्दू समाज पर जो प्रभाव पड़ा है, उसी को लक्ष्य करके उन्होंने लिखा है कि वैष्णव मत "भारतवर्ष की हड्डी तक में मिल गया है।" वैष्णवता की व्याख्या करते हुए भारतेन्दु ने धर्म को और भी उदार बनाने की आवश्यकता पर जोर दिया है। विलायत जाकर शिक्षा पाने का समर्थन किया है। इस निबन्ध के अन्त में उन्होंने जो कुछ कहा है, उससे उनके युग की नवीन विचार-धारा अच्छी तरह समझ में आ जाती है। भगवान की भक्ति में मगन रहकर स्वर्ग पाने की आशा करनेवालों से उन्होंने कहा है—"जब पेट भर खाने को ही न मिलेगा तो धर्म कहाँ बाकी रहेगा। इससे जीवमात्र को सहज धर्म उदर-पूरण पर अब ध्यान देना चाहिए।" वैष्णवता की यह एक विचित्र व्याख्या थी जिसका अर्थ बहुतों की समझ में उस समय न आया होगा, विशेषकर उन पण्डितों की जो वैष्णवता की बड़ी-बड़ी आध्यात्मिक व्याख्याएँ करते

हुए भी अपने जीवन में उसका भोजनवृत्तिवाला अंश ही अधिक चरितार्थ करते थे। भारतेन्दु एक उदार और विकासोन्मुख परम्परा में सारी जनता को संगठित करना चाहते थे। इसलिये उन्होंने लिखा था—"शैव शाक्त जो हो, सबसे मिलो। उपासना एक हृदय की रत्नवस्तु है। उसको कार्य-क्षेत्र में फैलाने की कोई आवश्यकता नहीं। वैष्णव, शैव, ब्राह्मण, आर्य-समाजी, सब अलग-अलग पतली डोरी हो रहे हैं। इसी से ऐश्वर्यरूपी मस्त हाथी उनसे नहीं बँधता। इन सब डोरियों को एक में बाँधकर मोटा रस्सा बनाओ, तब यह हाथी दिग्दिगंत भागने से रुकेगा। अर्थात् अब यह काल नहीं है कि हम लोग भिन्न-भिन्न अपनी खिचड़ी अलग पकाया करें। अब महाघोर कलिकाल उपस्थित है। चारों ओर आग लगी हुई है। दरिद्रता के मारे देश जला जाता है।......अब सब लोग एकत्र हों। हिन्दू नामधारी वेद से लेकर तंत्र वरंच भाषाग्रन्थ माननेवाले तक सब एक होकर अब अपना परम धर्म यह रक्खो कि आर्य जाति में एका हो। इसी में धर्म की रक्षा है। भीतर तुम्हारे चाहे जो भाव और जैसी उपासना हो, ऊपर से सब आर्यमात्र एक रहो। धन सम्बन्धी उपाधियों को छोड़कर प्रकृत धर्म की उन्नति करो।"

वैष्णव मत की जो रूपरेखा भारतेन्दु ने खींची है, वह सही हो चाहे ग़लत, उनके शब्दों से यह अवश्य सिद्ध होता है कि वह भारतीय मतमतान्तरों में एक अत्यन्त स्वाधीन और उदार परम्परा के समर्थक थे। इस परम्परा को और आगे बढ़ाकर वह सबको एक सूत्र में गूँथ देना चाहते थे। स्वामी दयानन्द का लक्ष्य भी जन-संगठन था परन्तु उनका आन्दोलन कट्टर और कुछ कुछ अनुदार था। दूसरों से कुछ लेकर ग्रहण करने की सामर्थ्य उसमें न थी। अपने विरोधियों के प्रति उसमें कटुता थी। यदि आर्य समाज ने भारतेन्दु और उनके साथी लेखकों की उदा-रता से कुछ भी ग्रहण किया होता तो आज उसका प्रभाव और भी व्यापक होता; यह आन्दोलन कुछ दिन अपनी तेजी दिखाने के बाद आर्य-समाज के मन्दिरों में बन्द न हो जाता। भारतेन्दु ने अपने विरोधी के प्रति स्वाभाविक उदारता से काम लिया है; उसकी देश-सेवाओं की

मुक्तकंठ से प्रशंसा की है।

स्वर्ग में कंसरवेटियों का दल प्रबल है और इसका कारण यह है कि वहाँ के जमींदार उस दल के समर्थक हैं। स्वर्ग के जमींदारों को डर था कि उदार दल की बढ़ती से उन्हें बलि के विशेष भाग मिलना बन्द हो जायँगे। भारतेन्दु ने इन्द्र और उसके साथियों की बंगाल के जमींदारों से तुलना की है। नीचे के वाक्य से प्रकट हो जायगा कि भारतेन्दु की सहानुभूति किसानों के साथ थी या जमींदारों के। उन्होंने लिखा है— "कंसरवेटियों का दल प्रबल था; इसका मुख्य कारण यह था कि स्वर्ग के जमींदार इन्द्र, गणेश प्रभृति भी उनके साथ योग देते थे, क्योंकि बंगाल के जमींदारों की भाँति उदार लोगों की बढ़ती से उन बेचारों को विविध और सर्वोपरि बलिभाग न मिलने का डर था।" भारतेन्दु ने बड़ी कुशलता से उस समय के अनुदार दलों के प्रति अपना विरोध प्रकट किया है। स्वर्ग में कंसरवेटिव और लिबरल दलों का वादविवाद एक धार्मिक प्रश्न पर छिड़ा हुआ है। प्रश्न यह है कि स्वामी दयानन्द और केशवचन्द्र सेन आर्य-धर्म को मानने वाले हैं या उसका खंडन करने वाले। भारतेन्दु का उत्तर है कि उनके कट्टर शत्रु वे कंसरवेटिव लोग हैं जो जमींदार वर्ग के स्वार्थों की रक्षा करते हैं। अर्थात् प्रत्येक सामाजिक या धार्मिक उदार आन्दोलन के विरोधी वे ही लोग होते हैं जिनके विशेषाधिकारों पर इन आन्दोलनों से धक्का लगता है। इस प्रकार जमींदार और उनके साथी धर्म की आड़ लेकर अपना उल्लू सीधा करते हैं। भारतेन्दु भी स्वामी दयानन्द के विरोधी थे परन्तु उनका विरोध इसलिये था कि आर्य-समाज अधिक उदार बने और उसे सामाजिक संगठन में अधिक सफलता मिले। जैसे कॉग्रेस के विरोधी बहुत से लोग हैं परन्तु यदि कम्यूनिस्ट चाहते हैं कि कॉग्रेस और क्रान्तिकारी बने तो महासभा वाले उसे और प्रतिक्रियावादी बनाना चाहते हैं। भारतेन्दु ने बंगाल के जमींदारों और उदार नेताओं के संघर्ष का उल्लेख करके अपनी बात और भी स्पष्ट कर दी है। उनकी सहानुभूति उस उदार आन्दोलन के साथ है जो इस जमींदार वर्ग के विरुद्ध खड़ा हुआ है, फिर चाहे वह वर्ग बंगाल का हो चाहे आगरा और

अवध का। हिन्दी में प्रगतिशील आन्दोलन के विरोधी भारतेन्दु के ऊपर उद्धृत किये हुए वाक्य को फिर ध्यान से पढ़ें।

धर्मों की विभिन्नता और उनके निराले स्वर्गों की कल्पना का भारतेन्दु ने मखौल उड़ाया है। एक मुसलमानी स्वर्ग है तो दूसरा जैन स्वर्ग और तीसरा किस्तानी स्वर्ग! स्वामी दयानन्द सम्बन्धी वाद-विवाद में भाग लेने के लिए इन सभी स्वर्गों से प्रतिनिधि आते हैं! स्वामी दयानन्द और केशवचन्द्र सेन के अन्धभक्तों पर भी भारतेन्दु ने व्यंग्य किया है। उदार दल में दो मतों के लोग हैं; एक वे जो स्वामी दयानन्द के अन्धभक्त हैं और दूसरे वे जो केशवचन्द्र सेन के अन्ध उपासक हैं। पहले मत के लोग कहते हैं—"धन्य दयानन्द, जिसने" ......वेद में रेल, तार, कमेटी, कचेहरी दिखाकर आर्यों की कटती हुई नाक बचा ली!" दूसरे मत के लोग कहते हैं—"धन्य केशव!..............तुमने बङ्गदेश की मनुष्य नदी के उस वेग को जो क्रिश्चन समुद्र में मिल जाने को उच्छलित हो रही थी, रोक दिया।" इस वाक्य में बँगला के आलङ्कारिक वाक्यविन्यास की भी अच्छी पैरोडी की गई है।

दोनों दलों ने मेमोरियल तैयार किये और फिर उन्हें परमात्मा के पास भेजा। परमात्मा ने अलग डाट बताई। "भूत प्रेत ताजिया के इतना भी तो हमारा दर्जा नहीं बचा। हमको क्या काम, चाहे बैकुण्ठ में कोई आवे।......चाहे सगुन मानो चाहे निर्गुन, चाहे द्वैत मानो चाहे अद्वैत; हम अब न बोलेंगे। तुम जानो स्वर्ग जाने।" तब डेपुटेशन वालों ने "बड़ा निवेदन सिवेदन किया।" और परमेश्वर ने पिघलकर एक सिलेक्ट कमेटी बिठाई जिसमें विभिन्न मतों तथा विभिन्न स्वर्गों के प्रतिनिधि रखे गए। परमात्मा ने यह भी ताकीद कर दी कि सिलेक्ट कमेटी अपनी रिपोर्ट पहले परमात्मा के पास लावे तब सम्पादकों को उसकी खबर हो, नहीं तो वे पहले से ही टॉय टॉय शुरू कर देंगे। सिलेक्ट कमेटी की रिपोर्ट महत्वपूर्ण है; उसमें दयानन्द और केशवचन्द्र के सामाजिक कार्यों की महत्ता को स्वीकार किया गया है। यद्यपि कुछ विदेशी मेम्बरों ने रिपोर्ट पर हस्ताक्षर नहीं किये फिर भी उसके मत का

एक "ऐतिहासिक" महत्व है। अर्थात् इतिहास स्वामी दयानन्द और केशवचन्द्र सेन के कार्यों का वही मूल्य आँकेगा जो सिलेक्ट कमेटी ने निर्धारित किया है। बीसवीं शताब्दी में जिन सामाजिक आन्दोलनों ने पुरानी रूढ़ियों को ध्वस्त कर दिया है, उनका आविर्भाव भारतेन्दु-युग में हो चुका था। भारतेन्दु उन आन्दोलनों का सूत्रपात करनेवालों में से थे। विधवा-विवाह आदि के वह वैसे ही समर्थक थे जैसे स्वामी दयानन्द।

सिलेक्ट कमेटी की रिपोर्ट महत्वपूर्ण होते हुए भी लम्बी है, इसलिए यहाँ पूरी उद्धृत नहीं की जा सकती। फिर भी उसके नीचे दिए हुए अंश पढ़ने से उस समय के सामाजिक आन्दोलनों की झलक हमें मिल जायगी। साहित्य में इन आन्दोलनों की जो प्रतिक्रिया हो रही थी उसका भी पता चल जायगा। सिलेक्ट कमेटी का मत था कि इन दोनों पुरुषों ने प्रभु की *मंगलमयी सृष्टि का कुछ विघ्न नहीं किया वरंच* उसमें सुख और सन्तति अधिक हो इसी में परिश्रम किया।" इस प्रकार दोनों को निर्दोष कह देने के बाद कमेटी ने उन कुरीतियों का उल्लेख किया जिनसे स्त्रियाँ "जन्म भर सुख नहीं भोगने पातीं, लाखों गर्भ नाश होते और लाखों ही बालहत्या हो जाती हैं," और बताया कि इन कुरीतियों को दूर करने का प्रयत्न इन सज्जन ने किया। और भी—"जन्मपत्री की विधि के अनुग्रह से जब तक स्त्री-पुरुष जिएँ, एक तीरघाट एक मीरघाट रहें, बीच में इस वैमनस्य और असन्तोष के कारण स्त्री व्यभिचारिणी पुरुष विषयी हो जायँ, परस्पर नित्य कलह हो, शान्ति स्वप्न में भी न मिले, वंश न चले, ये उपद्रव इन लोगों से नहीं सहे गए। समाज में फैले अनाचार और धर्मध्वजों की उपेक्षा का उल्लेख करते हुए सिलेक्ट कमेटी ने मत प्रकट किया कि "विधवा गर्भ गिरावें। पण्डित जी या बाबू साहब यह सह लेंगे, वरंच चुपचाप उपाय भी करा देंगे, पाप को नित्य छिपावेंगे, *अन्ततोगत्वा निकल ही जायँ तो सन्तोष करेंगे, पर विधवा का विधि-पूर्वक विवाह न हो।* फूटी सहेंगे आँजो न सहेंगे! इस दोष को इन दोनों ने निःसन्देह दूर करना चाहा!" विवाह सम्बन्धी कुप्रथाओं के बारे में लिखा—"सवर्ण पात्र न मिलने से कन्या को वर मूर्ख, अन्धा वरंच

नपुंसक मिले, तथा वर को काली कर्कशा कन्या मिले जिसके आगे बहुत बुरे परिणाम हों, इस दुराग्रह को इन लोगों ने दूर किया। चाहे पढ़े हों चाहे मूर्ख, सुपात्र हों कि कुपात्र, चाहे प्रत्यक्ष व्यभिचार करें या कोई भी बुरा कर्म करें, पर गुरुजी हैं, पुरोहितजी हैं इनका दोष मत कहो। कहोगे तो पतित होगे, इनको दो, इनको राजी रक्खो, इस सत्यानाश संस्कार को इन्होंने दूर किया।" धर्म परिवर्तन के बारे में—"कोई भी दुष्कर्म किया तो छिपके क्यों नहीं किया, इसी अपराध पर हजारों मनुष्य आर्यपंक्ति से हर साल छूटते थे, इसको इन्होंने रोका।" मतमतान्तरों और अन्धविश्वासों के बारे में लिखा—"सबसे बढ़कर इन्होंने यह कार्य किया, सारा आर्यावर्त जो प्रभु से विमुख हो रहा था, देवता विचारे तो दूर रहे, भूत प्रेत पिशाच, मुरदे, साँप के काटे, बाघ के मारे, आत्महत्या करके मरे, जल में डूबकर मरे लोग, यही नहीं मुसलमानी पीर, पैगम्बर, औलिया, शहीद, वीर, ताजिया, गाजीमियाँ, जिन्होंने बड़ी बड़ी मूर्ति तोड़कर और तीर्थ पार कर आर्यधर्म विध्वंस किया, उनको मानने और पूजने लग गये थे।" इस तरह के अन्धविश्वासों को इन लोगों ने दूर किया।।

अन्त में रिपोर्ट परमेश्वर के पास भेजी गई। "इसको देखकर इस पर क्या आज्ञा हुई और वे लोग कहाँ भेजे गये, यह जब हम भी वहाँ जायँगे और फिर लौटकर आ सकेंगे तो पाठक लोगों को बतलायेंगे। या आप लोग कुछ दिन पीछे आप ही जानेंगे।"

यह निबन्ध उस समय की हास्य रस में डूबी हुई शैली और उदार भावना का एक अच्छा उदाहरण है। सामाजिक कुरीतियों पर प्रकाश डालने के लिये भारतेन्दु ने कल्पना का सहारा लेकर एक अच्छी कथा गढ़ डाली है। भारतेन्दु-युग में लघुकथा का विकास न हुआ था परन्तु इस प्रकार के रोचक निबन्धों में हम उसकी रूपरेखा बनते देख सकते हैं। उस समय प्रेस की स्वाधीनता बहुत कम थी; इसलिये लेखकों को बरबस व्यंग्य और हास्य का सहारा लेना पड़ता था। अपनी बात कहने के लिये उन्होंने किस खूबी से उसका प्रयोग किया है, यह हम ऊपर के

उदाहरण में देख सकते हैं। सबसे अधिक ध्यान देने की बात अपने विरोधी के प्रति भारतेन्दु की उदारता है। यह उदारता उस युग के प्रायः सभी लेखकों में पाई जाती है। उसी उदारता से प्रभावित होकर राधाचरण गोस्वामी ने लिखा था कि आर्यसमाज के देशोन्नति करने में किसी को सन्देह हो, तो वह पशु है। "हरिश्चन्द्र-चन्द्रिका" के अन्तिम पृष्ठ पर सम्पादकों की नामावली में स्वामी दयानन्द का नाम भी रहता था।

प्रतापनारायण मिश्र तथा अन्य निबन्धकार

निबन्ध-रचना का सामयिक पत्रों से घनिष्ठ सम्बन्ध था। भारतेन्दु-युग के सैकड़ों महत्वपूर्ण निबन्ध अब भी उस समय के पत्रों की जिल्दों में बन्द पड़े हैं। इनमें भारतेन्दु के निबन्धों का एक संग्रह बहुत जल्द प्रकाशित हो जाना चाहिये। "हरिश्चन्द्र-चन्द्रिका" में वह अपने और अपने मित्रों के निबन्ध छापा करते थे। ज्वालाप्रसाद की "कलिराज की सभा" का पहले उल्लेख हो चुका है। बाबू तोताराम का "एक अद्‌भुत अपूर्व स्वप्न" इसी में छपा था। अनेक विषयों पर गम्भीर लेख भी रहते थे, इसलिये केवल मनोरंजक निबन्धों की उसमें वैसी भरमार नहीं है जैसी प्रतापनारायण मिश्र के "ब्राह्मण" में। "सारसुधानिधि" में सामाजिक और राजनीतिक विषयों पर सुन्दर निबन्ध निकलते थे। "यमपुर की यात्रा" उसी पत्र में छपी थी। ३ मार्च १८७९ ई० की संख्या में "मार्जार-मूषक" नाम का एक रोचक निबन्ध छपा है। लेखक का नाम नहीं दिया गया। रूस का भय दिखाकर अँग्रेज जिस प्रकार हिन्दुस्तानियों पर आतंक जमाये हुए थे, उसी नीति की इसमें पैरोडी

की गई है। चूहों को साँप से भय है। बिल्ली उनकी रक्षा करने आती है और बदले में अन्न माँगती है। चूहों के पास वैसे ही अन्न की कमी है। जो पास है उसे दे देंगे तो बिना मौत मरेंगे। बिल्ली इस बात पर ज़ोर देती है कि चूहे उसके रक्षा करने के अधिकार को स्वीकार करें और जब चूहे उसकी संरक्षकता में आने को राज़ी नहीं होते तो वह उन्हें खा जाने के लिये उन पर आक्रमण कर बैठती है। सन् १८७६ के बदले यदि इस व्यंग्य-लेख पर सन् १६४२ लिख दिया जाय तो भी उसका सामयिक राजनीति से सम्बन्ध सहज ही समझ लिया जायगा।

सरयूप्रसाद नाम के एक लेखक के कुछ अच्छे निबन्ध इस पत्र में प्रकाशित हुए थे। राधाचरण गोस्वामी ने इसमें अनेक रचनाएँ भेजी थीं। "तुम्हें क्या" नाम के निबन्ध में उन्होंने पत्र-सम्पादकों की वकालत की है। "होली" में टैक्स और अकाल आदि के बारे में लिखा है। नन्दकिशोरदेव शर्मा ने "शैतान का दरबार" नाम का एक निबन्ध लिखा था जिसमें आधुनिक शिक्षा पर छींटेबाज़ी की थी।

"आनन्द कादम्बिनी" में अनेक सुन्दर निबन्ध प्रकाशित हुए थे। इनमें "हमारी मसहरी" उल्लेखनीय है। मसहरी की अनेक मनोरंजक उपमाएँ दी गई हैं। शैली में एक प्रकार की साहित्यिकता है जिसका आनन्द साहित्य से अनभिज्ञ व्यक्ति को न आयेगा। जैसे लैंब के लेखों में अनेक साहित्यिक रचनाओं की ओर संकेत रहता है, वैसे ही यहाँ भी है। "हमारी दिनचर्या" नाम के लेख में इसी प्रकार की शैली है। नीचे के उद्धृत अंश में कवित्वपूर्ण गद्य का एक सफल उदाहरण हम देख सकते हैं—"यदि यह जगत गंधर्वलोक है तो चाँदनी रात्रि में; यदि देवताओं को भी ईर्ष्या करने का समय है तो यही है; कुसुमायुध भी यदि इस लोक में कभी भ्रमण करता है तो इसी समय; यदि लोग दिल आपस में हेर-फेर करते हैं तो इसी समय; यदि उषा ने अनिरुद्ध को स्वप्न में देखा होगा तो अवश्य इसी समय; यदि योगिराज श्रीकृष्ण ने अपना अविचल हृदय भी लक्ष्मी के प्रेम से हटा श्रीमती राधिका देवी को सौंपा होगा तो निश्चय ऐसी ही रात्रि में; सीताजी की अश्रुधारा

भगवान् रामचन्द्र के वियोग में ऐसी ही रात्रि के सुख का स्मरण कर सदन्यथा हो रही होगी; लज्जा को छोड़ तपस्विनी कुमारी शकुन्तला ने भी दुष्यन्त को निज प्रेम की कथा पत्र में लिखना ऐसी ही सुखमयी निशा में निश्चय किया होगा" इत्यादि। भारतेन्दु को छोड़कर ऐसी सरल और अलंकृत शैली में बहुत कम लेखकों को सफलता मिली है। यह लेख सम्भवतः "आनन्द-कादम्बिनी" सम्पादक प्रेमघन का लिखा हुआ ही था।

मनोरंजक निबन्ध-रचना को प्रतापनारायण मिश्र ने चरम सीमा तक पहुँचा दिया। उनके निबन्धों में मनोरंजन का बाहुल्य है और शैली में भी सामयिक गद्य के गुण और दुर्गुण बहुमात्रा में विद्यमान हैं। लिखने में लापरवाही उनमें औरों से अधिक है; इसीलिये व्याकरण आदि के दोष उनमें सरलता से मिल जाते हैं। परन्तु भारतेन्दु-युग के अन्य किसी लेखक ने अपनी लेखनी को जीभ की तरह इतना नहीं चलाया; अन्य किसी लेखक ने पाठक से इतनी आत्मीयता से और इतनी ज्यादा बातचीत नहीं की। और कोई भी लेखक अपनी भाषा को इतना सरपट नहीं दौड़ा सका जितना प्रतापनारायण मिश्र। भारतेन्दु-युग में भी और किसी की हिन्दी ग्रामीण बोलियों के इतना निकट नहीं आ पाई। इस प्रवाह में बहते हुए कहीं-कहीं वह अति कर गये हैं और गाँवों से उन्होंने ऐसी कहावतें आदि को अपना लिया है जिन्हें सभ्य समाज घृणित या त्याज्य समझेगा। जो सजीवता और असभ्यता अँग्रेजी के प्रसिद्ध उपन्यासकार फील्डिंग में है, वही प्रतापनारायण मिश्र में भी है। उनमें यदि कहीं-कहीं युवकसुलभ उच्छृंखलता है तो सर्वत्र युवकोचित तेजस्विता भी है। भारतेन्दु की भाँति थोड़ी ही आयु में उनकी मृत्यु हो गई। केवल ३८ वर्ष की अवस्था में बाल्यकाल और यौवन बिताकर उन्होंने हिन्दी की प्रशंसनीय और स्मरणीय सेवाएँ समाप्त कीं।

भारतेन्दु-युग का निबन्ध "इम्पर्सनल" या तटस्थ रचना नहीं है। लेखक के व्यक्तित्व का उसमें महत्त्वपूर्ण स्थान है; फिर भी लेखक का ध्येय अपने बारे में बात करना नहीं है। उसका मन सामाजिक और

राजनीतिक समस्याओं को सुलझाने में लगा हुआ है, इसलिये निबन्धों का विषय व्यक्तिगत न होकर सामाजिक है। लैंब और हैजलिट की तरह इन लेखकों में अधिकांश की भाषा साहित्यिक संकेतों से लदी नहीं है। जिसने एलिजाबीथन नाटककारों, सत्रहवीं शताब्दी के गद्य लेखकों आदि की रचनाएँ न पढ़ीं हों, उसके लिये लैंब की शैली बहुत कुछ अपना महत्त्व खो देती है। इन लोगों की शैली में आलंकारिता है परन्तु सरल और हास्यपूर्ण।

प्रतापनारायण मिश्र ने "ब्राह्मण" पत्र होली के दिनों में निकाला था, इसलिए हास्यरस से उसका जन्मजात सम्बन्ध मानते थे। हास्यरस उत्पन्न करने के उनके दो प्रधान साधन हैं, श्लेष और कहावतें। इनके सिवाय दो निराली बातों को एक साथ अप्रत्याशित ढंग से रखना तो सभी हास्य लेखकों में पाया जाता है। शिष्ट भाषा का प्रयोग वह बहुतायत से करते थे। हिन्दी भाषा में कुछ ऐसी विशेषताएँ हैं जिनसे श्लेष के लिए दूर की कौड़ी लाने की ज़रूरत नहीं होती। पग पग पर श्लेष अपने आप उनकी लेखनी से निकलते जाते हैं जैसे फागुन के दिनों में "जब जड़ वृक्ष आम भी बौराते हैं तब आम खास सभी के बौराने की क्या बात है।" ध्यान से पढ़े बिना उनके बहुत से निबन्ध ऐसे लगेंगे जैसे वे केवल विचित्र बातों से पाठकों का मनोरंजन करने के लिए लिखे गये हों। पाठकों का मनोरंजन करना उनका ध्येय अवश्य है, परन्तु सामयिक समस्याओं के प्रति उन्हें सचेत करना भी वह नहीं भूले। "दाँत" या "भौंह" पर बहुत सी बदकी बातें करने के बाद वह अपने निबन्ध में देश के लिए भी थोड़ा बहुत कुछ कह जाते हैं। जैसे भौंह के सौन्दर्य वर्णन के बाद—यद्यपि हमारा धन, बल, भाषा इत्यादि सभी निर्जीव से हो रहे हैं तो भी यदि हम पराई भौंहें ताकने की लत छोड़ दें, आपस में बात बात पर भौंहें चढ़ाना छोड़ दें, दृढ़ता से कटिबद्ध होके बीरता से भौंहें तान के देश-हित में सन्नद्ध हो जायें, अपने देश की बनी वस्तुओं का, अपने धर्म का, अपनी भाषा का, अपने पूर्व-पुरुषों का रुज़गार और व्यवहार का आदर करें तो परमेश्वर

अवश्य हमारे उद्योग का फल है। उसके महज भृकुटि-विलास में अनन्त कोटि ब्रह्माण्ड की गति बदल जाती है, भारत की दुर्गति बदल जाना कौन बड़ी बात है।" भाँग के बारे में बातचीत भी न बन्द हुई और देश के लिए कमर कसकर काम करने की बात भी हो गई। कुनैन की गोली पर शक्कर चढ़ाने वाली मसल तो यहाँ चरितार्थ नहीं होती क्योंकि कुनैन से शक्कर की मात्रा बहुत ज्यादा है, फिर भी इतनी कुनैन भी पाठक तक पहुँचाना उस समय कम सन्तोषप्रद नहीं था।

मनोरंजक निबन्धों के अतिरिक्त उनके ऐसे निबन्ध भी हैं जिनमें कुनैन और शक्कर उचित परिमाण में मिली हुई हैं। "कॉंग्रेस की जय" नामक निबन्ध के सिरनामे से ही विषय स्पष्ट हो जाता है। राधाचरण गोस्वामी की भाँति प्रतापनारायण मिश्र भी कॉंग्रेस के कार्यों में भाग लेते थे। यह इलाहाबाद और मद्रास की कॉंग्रेस में कानपुर से प्रतिनिधि बनकर गये थे। ऊपर के निबन्ध में इलाहाबाद की कॉंग्रेस का वर्णन है। ऐसे ही "देशी कपड़ा" नाम के निबन्ध में स्वदेशी वस्त्रों के सम्बन्ध में उन्होंने बहुत खरी खोटी सुनाई हैं। कॉंग्रेस ने अभी स्वदेशी आन्दोलन विधिपूर्वक न आरम्भ किया था, न बंगभंग आन्दोलन ने जन्म लिया था। केवल हिन्दी में भारतेन्दु ने स्वदेशी आन्दोलन का सूत्रपात बहुत पहले कर दिया था। "तदीय समाज" के सदस्यों के लिये स्वदेशी वस्त्रों का व्यवहार उन्होंने अनिवार्य रखा था। "देशी कपड़ा" नाम के निबन्ध का अन्तिम अंश नीचे उद्धृत किया जाता है। पाठक उससे हिन्दी साहित्यिकों की जागरूकता और देश की समस्याओं के प्रति उनकी सतर्क दृष्टि देख सकेंगे। स्वदेशी के लिए हिन्दी लेखकों के आन्दोलन की ओर संकेत करते हुये प्रतापनारायण ने लिखा था—

"हम और हमारे सहयोगी-गण लिखते लिखते हार गये कि देशोन्नति करो, पर यहाँ वालों का सिद्धान्त है कि अपना भला हो, देश चाहे चूल्हे में जाय, यद्यपि जब देश चूल्हे में जायगा तो हम बच न रहेंगे। पर समझना तो मुश्किल काम है ना। सो भाइयो, यह तो तुम्हारे ही मतलब की बात है। आखिर कपड़ा पहनोगे ही, एक बेर हमारे

कहने से एक २ जोड़ा देशी कपड़ा बनवा डालो। यदि कुछ सुभीता देख पड़े तो मानना, दाम कुछ दूने न लगेंगे, चलेगा तिगुने से अधिक समय। देशी लक्ष्मी और देशी शिल्प के उद्धार का फल सेंतमेंत। यदि अब भी न चेतो तो तुम से ज्यादा भकुआ कौन? नहीं नहीं, हम सबसे अधिक, जो गैरों को हितोपदेश करने में व्यर्थ जीवन खोते हैं।" इस प्रकार सामयिक समस्याओं पर रोचक ढंग से लिख कर प्रतापनारायण मिश्र ने उस उदार विचार-धारा को आगे बढ़ाया जिसे भारतेन्दु ने आरम्भ किया था।

पत्र का नाम ही "ब्राह्मण" था; जहाँ तहाँ थोड़ी बहुत ब्राह्मण-सुलभ कट्टरता भी मिलती है। विदेशी शिक्षा, विलायत-यात्रा आदि के बारे में प्रतापनारायण उतने उदार नहीं हैं जितने भारतेन्दु या राधाचरण गोस्वामी। फिर भी केवल उनमें यह जीवट थी जो कान्यकुब्ज ब्राह्मणों को कलियुग के मुसाहिब बनाकर लिख सकते थे— "इनकी पैदाइश विराट् भगवान् के मुख से है, और मुख ऐसा स्थान है जहाँ थूक भरा रहता है। फिर जो थूक के ठौर से जन्मेगा, वह कहाँ तक थुकैलापन न करेगा।" राधाचरण गोस्वामी रतन की पूँछ पकड़कर वैतरणी पार कर सकते थे परन्तु इन ठेठ शब्दों में कान्यकुब्जों या गोसाइयों की प्रशंसा करना उनके भी बस के बाहर की बात थी। प्रतापनारायण मिश्र की उद्दण्डता थी। उनके व्यक्तित्व की जो छाप पाठक के हृदय पर पड़ती है, उसमें सजीवता, फक्कड़पन, उद्दण्डता आदि गुण मिले हुए हैं। वह हास्यप्रधान लेख लिखते थे, इससे उनके जीवन की विजय-पराजय की झलक पाना पाठक के लिये कठिन है। परन्तु जब वह लिखते हैं—"ब्राह्मण को जिस तरह आज तक चलाया है, हमीं जानते हैं," तब वह अपनी आर्थिक कठिनाइयों का रोना नहीं रोते। साहित्य-क्षेत्र में जूझते हुए योद्धा की वह एक आह है जो क्षण भर विश्राम करते समय उसके मुँह से निकल गई है। "हिन्दी-प्रदीप" के सम्पादक के लिये उन्होंने जो कुछ लिखा है, वह उनके बड़प्पन, उनकी सहृदयता और उदारता का साक्षी है। एक ही लक्ष्य के लिये

युद्ध करते हुए दो सैनिकों में ही यह भाईपन का भाव पैदा हो सकता है। "हिन्दी-प्रदीप" और "ब्राह्मण" की तुलना करते हुए उन्होंने लिखा था—"ब्राह्मण से दूना उसका आकार है, चौगुनी उसकी आयु है, उसके सम्पादक श्रीबालकृष्ण भट्ट हैं, वह हमसे भी गई बीती दशा में ठहरे। कुटुम्ब बड़ा, खर्च बड़ा, सहायक सगा बाप भी नहीं; स्पष्ट वक्तापन के मारे जबानी दोस्त भी कोई नहीं। ऐसी हालत में सरकार ने १०) टैक्स के ले लिये। हम क्यों न कहें, मरे को मारें शाह मदार। वह विचारे कौन धन्धा करते हैं, जो उन पर टिकस। दस रुपये में क्या सरकार का खजाना भर गया। कर्मचारियों की कौन बड़ी नेकनामी हो गई। कौन बड़ी तनख़्वाह बढ़ गई, कौन पदवी मिल गई। हाय, क्या जमाना है कि राजा-प्रजा कोई ग़रीबों की हाय से नहीं डरता। चार बरस हुए, कुछ बदमाशों ने हमारे भट्ट महोदय पर अपनी बदमाशी दरसाई थी, तब सहायता किसी ने न की। आज रुपया चूसने को सब तैयार हो गये" इत्यादि।

ऊपर के उद्धरण से प्रतापनारायण की उदारता के साथ उस समय के लेखकों और पत्र-सम्पादकों की स्थिति पर भी प्रकाश पड़ता है, किन कठिनाइयों से युद्ध करते हुए उन्हें साहित्य-सेवा करनी पड़ती थी। यह तपस्या नहीं थी तो तपस्या कहकर कोई वस्तु नहीं होती। प्रतापनारायण मिश्र ने सात वर्ष तक इन कठिनाइयों से लड़ते हुए "ब्राह्मण" को जीवित रखा। परिस्थितियों का विचार करते हुए उस जीवट को धन्य कहना पड़ता है जिसके बल पर उस युग के लेखक अपने साहित्य में वह मस्ती की छाप छोड़ गये हैं जिससे लगता है कि दुनिया में उन्हें किसी बात की फ़िकर ही न थी। कौन कह सकता है कि सात वर्षों के संघर्ष ने प्रतापनारायण मिश्र की आयु को कितना क्षीण किया और ३८ वर्ष की अवस्था में ही उन्हें हिन्दी संसार से बिदा लेने के लिये बाध्य किया।

बालकृष्ण भट्ट भारतेन्दु-युग के प्रधान लेखकों में होते हुए भी बहुत सी बातों में उससे भिन्न हैं। उनके निबन्धों के बारे में कुछ

लिखने से पहले "भारतमित्र" के सम्पादक बालमुकुन्द गुप्त की गद्य रचनाओं का जिक्र कर देना उचित है। उनके कुछ निबन्ध "गुप्त निबन्धावली" के नाम से छपे हैं परन्तु उनकी कीर्ति का मूलाधार "शिवशम्भू का चिट्ठा" है। ये व्यंग्यपूर्ण निबन्ध भारतेन्दु और प्रतापनारायण मिश्र की परम्परा का अनुकरण करके लिखे गये हैं। भँगेड़ी शिवशम्भू के दिवास्वप्नों के बहाने गुप्तजी ने विदेशी शासन पर खब फब्तियाँ कसी हैं। अनोखी घटनाएँ संघठित करने में वह दक्ष हैं। *शिवशम्भू ने जिस समय बूटी चढ़ाई "ठीक उसी समय लाल डिग्गी पर* बड़े लाट मिन्टो ने बंगदेश के भूतपूर्व छोटे लाट उडवर्न की मूर्ति खोली। ठीक एक ही समय कलकत्ते में यह दो आवश्यक काम हुए।" उनकी कल्पना चमत्कारपूर्ण चित्र सजाने में सूक्ष्म है। ओले गिर रहे थे "पर विचार के घोड़े को विश्राम न था। वह ओलों की चोटों से बाजुओं को बचाता हुआ परिन्दों की तरह इधर उधर उड़ रहा था।" इस कवि-सुलभ कल्पना से उनकी व्यंग्य कथा और भी चमक उठी है। शिवशम्भू ने आकाश में एक चील को देखा था; ओले गिरते देखकर सोचते हैं कि चील का क्या हुआ होगा कि उसी समय उन्हें उन अभागों की याद आती है जो बिना झोपड़ियों के खुले में ही रातों पर रातें बिता देते हैं। देश की दशा ऐसी है कि उसका विचार करते ही हृदय दुख से भर आता है। "भारत! तेरी वर्तमान दशा में हर्ष को अधिक देर स्थिरता कहाँ!" इस दुख से दूर होने के लिये ही शिवशम्भू भाग का सहारा लेते हैं।

बालमुकुन्द गुप्त का भाषा पर असाधारण अधिकार है। वह हास्य-रस से क्षण में ही दूर हट कर शैली को गम्भीर बना सकते हैं। उनकी गम्भीर शैली में एक प्रकार की कविता है जिससे गद्य भी कविता की भाँति सरस हो उठता है। "विचार आया कि काल अनन्त है; जो बात इस समय है वह सदा न रहेगी। इससे एक समय अच्छा भी आ सकता है। जो बात आज आठ आठ आँसू रुलाती है, वही किसी दिन बड़ा आनन्द उत्पन्न कर सकती है।" अनन्त काल ही दिखायेगा कि

यह आशा झूठी न थी और आठ आठ आँसू व्यर्थ ही न गिरे थे। शिवशम्भू को यह रात्रि याद आती है जब संसार के सबसे बड़े कर्म-योगी ने कारागार में जन्म लिया था। "एक दिन ऐसी ही काली रात थी। इससे भी घोर अँधेरी भादों कृष्णा अष्टमी की अर्द्ध रात्रि, चारों ओर घोर अन्धकार—वर्षा होती थी, बिजली कौंदती थी, घन गरजते थे। यमुना उत्ताल तरङ्गों में बह रही थी। ऐसे समय में एक दृढ़ पुरुष एक सद्यजात शिशु को गोद में लिये मथुरा के कारागार से बाहर निकल रहा था।" यह बिल्कुल आधुनिक गद्य है और बालमुकुन्द गुप्त स्वर्गीय महावीरप्रसाद द्विवेदी के सम-सामयिक थे ही परन्तु उनकी निबन्ध-रचना की शैली भारतेन्दु-युग की है। भाषा में पहले से अब परिष्कार हो चुका है। वाक्य-विन्यास एकदम सधा हुआ है; गति और यति का वैसे ही ध्यान रखा गया है जैसे मुक्त छन्द में। सन् '२० के आन्दोलन से कारागार कृष्ण-मन्दिर अवश्य बन गया परन्तु बालमुकुन्द गुप्त ने बहुत पहले लिखा था—"वह कारागार भारत सन्तान के लिये तीर्थ हुआ। वहाँ की धूल मस्तक पर चढ़ाने योग्य हुई।" अभी इन तीर्थ-स्थानों में कुम्भ के मेले जैसी भीड़ होती और छूटने का नाम नहीं लेती है अनन्त काल दिखायेगा कि इस जनसमूह के पदचिह्न देखने के लिये ही यात्री-दल कृष्णमन्दिरों में आयेगा। उसे वहाँ टिकने की आवश्यकता न होगी।

बालकृष्ण भट्ट और हिन्दी आलोचना का जन्म

बालकृष्ण भट्ट का ३२ वर्ष तक "हिन्दी-प्रदीप" चलाना एक ऐतिहासिक घटना है। धुन और लगन का इससे बड़ा उदाहरण हिन्दी साहित्य के इतिहास में दूसरा नहीं है। उनके पास कार्तिकप्रसाद खत्री के साधन नहीं थे, न वह भारतेन्दु की भाँति सोने के पालने में झुलाये गये थे जो समाज उन्हें हाथों हाथ लेता। वह एक साधारण परिवार में उत्पन्न हुये थे। और कुछ दिन के लिए प्रयाग के एक कालेज में संस्कृत के अध्यापक रहे थे। "हिन्दी-प्रदीप" में किसी का लिखा हुआ उनका थोड़ा सा जीवन-चरित्र छपा था। उसमें उनके गृह-कष्टों का वर्णन है। "चित्र-दर्शन" नाम के इस निबन्ध में लिखा था—"दो भाइयों में जेठे तो हैं किन्तु स्वार्थ-साधन और पालिसी में अपने भाई से सदा छोटे ही रहे।" भाई और भाभी के कारण इन्हें अनेक कष्ट सहने पड़े। जन्म से ही यह अनाथ से रहे थे। "पिता केवल जन्म मात्र के हेतु हुये"—इन शब्दों में उनके बाल्य जीवन की व्यथा भरी हुई है। पालन-पोषण उनका ननिहाल में हुआ। वह एक अत्यन्त सरल

प्रकृति के भावुक व्यक्ति थे। उदारता की उनमें कमी न थी। ऐसे नर-रत्न संसार में हमेशा ठुकराये जाते हैं। "चित्र-दर्शन" के लेखक ने लिखा था—"मन होता है, 'प्रदीप' के एक कोने में इसकी नोटिस छपा दें कि कोई किसी का विश्वास न करे, नहीं तो वही हाल होगा जैसा हमारे इस चित्रलिखित पूज्यपाद का हुआ" ईश्वर ने पितृहीन किया, दुनिया ने ठुकराया परन्तु उनमें वह धैर्य था जो सच्चे हीरे की तरह घन-चोट से नहीं टूटता। उन्होंने सब सहन किया और बत्तीस लम्बे वर्षों तक "हिन्दी-प्रदीप" चलाकर देश और समाज के लिए अपूर्व साधना का उदाहरण हमारे सामने रखा।

"हिन्दी-प्रदीप" के दीर्घ जीवन की ओर दृष्टिपात करते हुए उन्होंने जो कुछ लिखा था उसे गर्वोक्ति कहना अपराध है। वास्तव में उनकी विनम्रता के नीचे वस्तुस्थिति दब गई है जिसे बहुत कम लोगों ने पहचाना है। उन्होंने लिखा था—"पाठक! इस बत्तीस साल की जिल्दों में कितने ही उत्तमोत्तम उपन्यास, नाटक तथा अन्यान्य प्रबन्ध भरे पड़े हैं। वे सब यदि पुस्तकाकार छपा दिये जायें तो निस्सन्देह हिन्दी-साहित्य के अंग का कुछ न कुछ कोना अवश्य भर जाय।" बिना "हिन्दी-प्रदीप" की फाइलें उल्टे इन शब्दों की यथार्थता आँकना कठिन है।

बालकृष्ण भट्ट संस्कृत के प्रकाण्ड विद्वान थे। आज सन् १९४२ में ऐसे पण्डितम्मन्य सज्जन जहाँ तहाँ दिखाई देते हैं जो हृदय में हिन्दी के प्रति एक द्वेष-भावना रखते हैं। संस्कृत और हिन्दी के आन्तरिक सम्बन्ध और भाषा-विकास के सिद्धान्तों को समझने में उनकी बुद्धि कुण्ठित हो जाती है। सुधाकर द्विवेदी और बालकृष्ण भट्ट भारतेन्दु-युग के श्रेष्ठ विद्वानों में से थे परन्तु संस्कृत-प्रेम ने उनके हिन्दी के प्रति कर्तव्य पर पर्दा न डाल दिया था। हिन्दी की सेवा में बालकृष्ण भट्ट की एक आँख प्रायः जाती रही थी; इसीलिये स्वर्गीय आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के छोटे भाई को आँख पर हाथ रखे देखकर उनके मुँह से अपने आप निकल पड़ा था—"भैया! यह आँख बड़ी खला है;

इसका आना, जाना, उठना, बैठना सब बुरा है।" सुधाकर द्विवेदी ने हिन्दी में वैज्ञानिक साहित्य रचने के लिये एक सभा स्थापित की थी। यदि ये लोग आज के पण्डित-पुङ्गवों की बातचीत सुनते तो अवश्य ही संस्कृत छोड़कर उन्हें "पुङ्गव" के हिन्दी अपभ्रंश से ही सम्बोधित करते!

बालकृष्ण भट्ट में सैलानीपन और फक्कड़पन का अभाव था। उनके लिये "रसिक" शब्द का प्रयोग करना अन्याय होगा। यह जब *नारी-सौन्दर्य या शृंगार-रस पर लिखते हैं, तब भी उनमें एक तर्कशास्त्री* का स्वर प्रधान रहता है। इसीलिये वह प्रतापनारायण मिश्र से बिल्कुल भिन्न कोटि के लेखक हैं। उनके "खटका" जैसे सफल और रोचक निबन्ध कम हैं जिनमें सहज हास्य रस की छटा दिखाई देती है। "खटका" में उन्होंने लिखा था—"अजी जीते जी तो खटके से कोई खाली रहता ही नहीं, मरने पर भी फिर जन्म लेने का खटका लगा रहता है।" देखने में यह वाक्य प्रतापनारायण मिश्र का सा लिखा मालूम होता है परन्तु उसमें एक दार्शनिक की तीखी उक्ति भी है जो "ब्राह्मण"-सम्पादक की परिधि के बाहर की है। हास्य और व्यंग्य तो भारतेन्दु-युग की विशेषताएँ हैं और भट्टजी की रचनाओं में उनका अभाव भी नहीं है परन्तु वे उनकी अपनी विशेषताएँ नहीं हैं।

जब यह राजनैतिक और सामाजिक विषयों पर लिखते हैं, तब उनकी शैली में एक ऐसी निपट सत्यवादिता आ जाती है जो मानो हास-परिहास को त्याज्य समझती है। अकाल, टैक्स आदि पर जितनी कविताएँ "हिन्दी-प्रदीप" में छपीं, उतनी अन्य किसी पत्र में नहीं। यह उनकी उदारता थी जो वास्तविक सत्ता एक अध्ययनशील विद्वान और एक तीक्ष्ण-बुद्धि आलोचक की है। उन्हें आधुनिक हिन्दी आलोचना का जन्मदाता कहना अनुचित न होगा। भारत और यूरुप के साहित्यों की तुलना पहले-पहल उन्होंने ही अपने लेखों में की है। वेदों की कणाद और कपिल के शास्त्रों तथा कालिदास और भवभूति के काव्यों से तुलना करते हुए उन्होंने जो कुछ लिखा है यह उनकी विद्वता,

विचार-स्वाधीनता तथा शब्द-कृपण शैली का बड़ा अच्छा उदाहरण है। नीचे के उद्धृत वाक्य "साहित्य जनसमूह के हृदय का विकास है" नामक निबन्ध से लिये गये हैं। लेख के नाम से ही भट्टजी का आधुनिक दृष्टिकोण प्रकट हो जाता है। साहित्य रसात्मक वाक्य या कवि के अन्तःपुर का लीला-विनोद न होकर जन-समूह के हृदय का विकास है। इस दृष्टिकोण से उन्होंने संस्कृत और हिन्दी-साहित्य के विकास पर संक्षेप में अपने विचार प्रकट किये हैं।

उन्होंने लिखा था—"वेद जिन महापुरुषों के हृदय का विकास था, वे लोग मनु और याज्ञवल्क्य के समान समाज के आभ्यन्तरिक भेद, वर्ण-विवेक आदि के झगड़ों में पड़ समाज की उन्नति या अवनति की तरह तरह की चिन्ता में नहीं पड़े थे; कणाद या कपिल के समान अपने अपने शास्त्र के मूलभूत बीजसूत्रों को आगे कर प्राकृतिक पदार्थों के तत्व की छान बीन में दिन-रात नहीं डूबे रहते थे; न कालिदास, भवभूति, श्रीहर्ष आदि कवियों के सम्प्रदाय के अनुसार वे लोग कामिनी के विभ्रम विलास और लावण्य-लीला-लहरी में गोते मार मार प्रमत्त हुये थे। प्रातःकाल उदयोन्मुख सूर्य की प्रतिभा देख उनके सीधे सादे चित्त ने बिना कुछ विशेष छान-बीन किये इसे अज्ञात और अजेय शक्ति समझ लिया। इसके द्वारा वे अनेक प्रकार का लाभ देख कानन-स्थित-विहंग-कूजन समान कलकल रव से प्रकृति की प्रभात-वन्दना का साम गाने लगे; जल-भार-नत श्यामला मेघमाला का नवीन सौन्दर्य देख पुलकित-गात्र हो कृतज्ञता-सूचक उपहार की भाँति स्तोत्र का पाठ करने लगे; वायु जब प्रबल वेग से बहने लगी तो उसे भी एक ईश्वरीय शक्ति समझ उसके शान्त करने को वायु की स्तुति करने लगे। वे ही सब ऋक् और साम की पावन ऋचाएँ हो गईं।"

जिस वातावरण में वैदिक ऋचाओं की सृष्टि हुई थी, उसका लेखक ने बड़ा सुन्दर कल्पना-चित्र तैयार किया है। वैदिक देवताओं की सत्ता पर उसने एकबारगी पानी फेर दिया है और अनेक आधुनिक विद्वानों की भाँति देवताओं को प्राकृतिक शक्तियों का प्रतीक मात्र

स्वीकार किया है। जिन विशेषताओं ने वेदों को कणाद, कपिल, कालिदास तथा भवभूति की रचनाओं से भिन्न कोटि में रखा है, उनका भी संक्षेप में उल्लेख कर दिया गया है।

वेदों के बाद भाषा का विकास होता गया और वह "अधिक, अधिक सरल, कोमल और परिष्कृत होती चली गई।" जो लोग वेदों के उपरान्त भाषा का पतन ही पतन देखते हैं, उनसे बालकृष्ण भट्ट का मत भिन्न है। वह भाषा-विज्ञान के विकास-सिद्धान्त को स्वीकार करते हैं। महाभारत के लिये उन्होंने लिखा था कि उस समय "भारतीय सभ्यता क्षतिग्रस्त हो वार्द्धक्य भाव को पहुँच गई थी।" धर्मराज के लिये उनका विचार था—"युधिष्ठिर धर्म के अवतार और सत्यवादी प्रसिद्ध हैं पर उनकी सत्यवादिता निज कार्य साधन के समय खुल गई।" ये सब बातें भारतीय आलोचना के लिये एकदम नयी और क्रान्तिकारी थीं।

विक्रमादित्य और कालिदास के युग की उन्होंने उचित ही "आगस्टन पीरियड" से तुलना की है। इस समय भाषा-परिष्कार अपनी चरम सीमा को पहुँच गया था। पौराणिक साहित्य और संस्कृति का समाज पर घातक प्रभाव बताते हुए उन्होंने लिखा—"हमारी विद्यमान छिन्न-भिन्न दशा, जिसके कारण हज़ार-हज़ार चेष्टा करने पर भी जातीयता हमारे में आती ही नहीं, सब पुराण ही की कृपा है।" बालकृष्ण भट्ट भारतवर्ष के उन इने-गिने विद्वानों में हैं जिन्होंने आधुनिक हिन्दू-धर्म के अवैदिक और अनार्य रूप को समझा था। पुरातत्व की खोजों से अब यह बात एक दृढ़ सत्य के रूप में प्रतिष्ठित हो चुकी है। भट्टजी ने केवल वैदिक और वर्तमान हिन्दू संस्कृति की तुलना से इस बात को समझकर लिखा था—"अब हम लोगों में जो धर्मशिक्षा, समाजशिक्षा और रीतिनीति प्रचलित है, वह सब शुद्ध वैदिक एक भी नहीं है।" ऐसी ही बातें स्वामी दयानन्द ने भी कही थीं। परन्तु उन्होंने वेदों में एक ऐसे आदर्श संसार की कल्पना की थी जो अवैज्ञानिक और ऐतिहासिक सत्य के प्रतिकूल है। भट्टजी में भारतेन्दु-युग की सहज उदारता और विचार

की सरलता, स्वाभाविकता आदि स्वीकार करते हुए उन्होंने एक वैदिक स्वर्ग की कल्पना नहीं कर ली। न पुराणों को जातीयता का विरोधी कहकर एकदम उन्हें टाल ही दिया है। वैदिक आर्यों में भी घृणित प्रथाएँ प्रचलित थीं, ऐसा सोचने और कह सकने का साहस बालकृष्ण भट्ट में ही था। वेद और पुराणों की तुलना करते हुए उन्होंने लिखा था—"पुराणों के साहित्य के प्रचार से एक बड़ा लाभ भी हुआ कि वेद के समय की बहुत सी घिनौनी रीतियाँ और रस्मों को जिनके नाम लेने में भी हम घिना उठते हैं और उन सब महाघोर हिंसाओं को, जिनके सबब से अपने अहिंसा धर्म के प्रचार करने में बौद्धों को सुविधा हुई, पुराणकर्ताओं ने उठाकर शुद्ध सात्विकी धर्म को विशेष स्थापित किया।" फिर भी पुराणों से जातीयता का ह्रास हुआ और तान्त्रिक मतों के प्रचार से उस पतन को सहायता मिली, यह उन्होंने स्वीकार किया है।

भारतेन्दु-युग में कविता के लिये ब्रजभाषा ही अपनाई गई थी। उसके गुणों का बखान करते हुए काव्यरसिकों का दम फूलने लगता था। उसके बारे में बालकृष्ण भट्ट ने अपनी स्पष्टवादिता की बानगी दिखाते हुए लिखा था—"ब्रजभाषा में यद्यपि कुछ मिठास है पर यह इतनी जनानी बोली है कि इसमें सिवाय शृंगार रस के दूसरा रस आ ही नहीं सकता।" बात बेजा नहीं है। भूषण ने अपनी भाषा को खूब तोड़ा मरोड़ा है जिससे ब्रजभाषा की विशेषताएँ उसमें कम से कम रह गई हैं। हिन्दी का सर्वश्रेष्ठ रचना "रामचरित मानस" की भाषा प्रधानतः अवधी है। अवधी का सबसे शुद्ध रूप यह है जो बैसवाड़े में बोला जाता है। इसके लिये भट्टजी ने लिखा था—"हमें बैसवाड़े की मर्दानी बोली सबसे अधिक भली मालूम होती है।"

"हिन्दी-प्रदीप" में उन्होंने अनेक कविताएँ इसी बोली में छापी थीं। प्रतापनारायण मिश्र की भाषा का चटपटापन अवधी की देन है। नागरिकों की भाषा ग्रामीण बोलियों की नींव पर ही सप्राण रह सकती है फिर अवधी का पूछना ही क्या जिसमें जायसी और तुलसीदास

की रचनाएँ हों। उसका प्रभाव आधुनिक हिन्दी पर जितना ही पड़े, शुभ है। भारतेन्दु-युग के गद्य पर ग्रामीण बोलियों के प्रभाव के ही कारण इतनी सरसता और रोचकता है; इसी से वह फारस या अरब का लिखा हुआ न मालूम होकर हिन्दुस्तान की धरती में ही रचा हुआ जान पड़ता है। भट्टजी का वाक्य हिन्दी और उसके अन्य रूपों के बीच उस सहज मैत्री का द्योतक है जो उस युग में अत्यन्त सजीव रूप में विद्यमान थी।

भट्टजी के अन्य साहित्यिक निबन्धों में "शब्द की आकर्षण-शक्ति" महत्वपूर्ण है। उसमें उन्होंने संस्कृत तथा फारसी से "ओनोमैटोपिआ" अलंकार के उदाहरण दिये हैं जिसमें शब्द का उच्चारण-सौन्दर्य अर्थ-प्रतिपादन में सहायक होता है। आचार्य शुक्ल की भाँति उन्होंने बहुत से मनोवैज्ञानिक और विश्लेषणात्मक निबन्ध भी लिखे थे जो उनके तीक्ष्ण विवेक का परिचय देते हैं। उदाहरण के लिये "माधुर्य" और "आशा" पर उनके निबन्ध पढ़े जा सकते हैं। भट्टजी में तर्क-शक्ति प्रबल थी। और उसने कुछ-कुछ उनकी परिहास-बुद्धि को दबा लिया था। जहाँ तहाँ दोषों के होते हुए भी उनके मनोवैज्ञानिक निबन्ध उच्च-कोटि के हैं इसमें सन्देह नहीं। आचार्य शुक्ल ने अपने निबन्धों में उन्हीं की परिपाटी को आगे बढ़ाया है। भट्टजी अपने गम्भीर अध्ययन, आलोचन-प्रतिभा, संयत शैली आदि गुणों के कारण भारतेन्दु-युग से भिन्न बहुत कुछ आज के से लगते हैं। आज के युग में विश्लेषण और विवेचन का जोर है; भारतेन्दु-युग की प्रतिभा मूलतः रचनात्मक थी।

विचारों की उदारता में वह युग के साथ थे; कहीं कहीं उससे आगे भी थे। समाज और साहित्य के विकास के बारे में उनकी धारणाएँ उनकी अपनी थीं; आज भी व्यापक रूप से वे समाज द्वारा नहीं अपनाई गईं। उनका "श्रीशंकराचार्य और गुरु नानकदेव" पर लिखा हुआ निबन्ध मनन करने योग्य है। धर्म और दर्शन को सामाजिक विकास की कसौटी पर कस कर बालकृष्ण भट्ट ने प्रगतिशील आलोचना की नींव डाली थी। उन्होंने लिखा था—"अब देखना चाहिए

कि राजनैतिक विषयों और मुल्की मामलों में इन दोनों के उपदेश और शिक्षा का क्या फल हुआ।" शंकर ने बौद्धों को निकालकर चाहा कि "भारत फिर वैसा ही हो जाय जैसा कि वैदिक ऋषियों के समय में था।" परन्तु इतिहास को फिर सैकड़ों वर्ष ठेल ले जाने की सामर्थ्य उनमें भी न थी। ब्राह्मणों को पूरी शक्ति मिली और "अपनी मनमानी करने में इनको रोक टोक करनेवाला अब कोई न रहा।"

शैव और वैष्णवों के झगड़े अलग शुरू हो गये। यह ठीक है कि शंकर तथा अन्य धर्माचार्यों ने हिन्दुत्व की रक्षा की परन्तु हिन्दुत्व को जो रूप उन्होंने दिया, वह यथेष्ट शक्ति से हीन था। इस कथन में कि "शंकर तथा रामानुज न हुए होते तो मुसलमानों को यहाँ कदम जमाने में इतनी सुगमता न होती और न मुल्क में इतनी कमजोरी फैल जाती" अत्युक्ति हो सकती है परन्तु असत्य नहीं है। शंकराचार्य ने किसी हद तक उस कट्टरपन और सामाजिक शोषण को फिर दृढ़ कर दिया जिसके विरुद्ध गुरु नानक ने विद्रोह करके सिक्खों के संगठित समाज को जन्म दिया। भट्टजी की सहानुभूति सहज ही गुरु नानक की ओर खिंच गई है।

धर्म, दर्शन, इतिहास, साहित्य आदि के प्रति भट्टजी के विचारों को देखते हुए कह सकते हैं कि वह अपने युग के सबसे महान् विचारक थे। उनमें राधाचरण गोस्वामी की सी उद्दण्डता न थी जो "यमपुर की यात्रा" लिखकर कट्टरपन्थियों की नाक में सुई चुभो देते। उनमें विद्वता के साथ सहज गाम्भीर्य था। पाठक की बुद्धि पर विश्वास करके वह उसे तर्क से प्रभावित करना चाहते थे। साहित्यिक, सामाजिक और मनोवैज्ञानिक समस्याओं पर वह गम्भीरतापूर्वक विचार करते थे और वैसी ही गम्भीरता से वह उन पर अपने सुझाव भी प्रकट करते थे। इसलिए उनकी शैली बहुधा आचार्य शुक्ल की याद दिलाती है। फिर भी जब वह लिखते हैं कि यूरप के वैज्ञानिकों को अपनी कल्पना कार्य रूप में परिणत करते देख कर "यहाँ वालों को हाथ मल मल पछताना और 'कलपना' पड़ा", तब वह तुरन्त अपने को भारतेन्दु-युग का लेखक घोषित कर देते हैं। शब्दों

के प्रयोग में भी वह साहस से काम लेते हैं। जैसे "वाल्मीकि ने जिन जिन बातों को अवगुण समझ अपनी कल्पना के प्रधान नायक रामचन्द्र में बरकाया था, वे ही सब व्यास के समय में गुण हो गईं, जिनकी कविता का मुख्य लक्ष्य यही था कि अपना मान, अपना गौरव, अपना प्रभुत्व जहाँ तक हो सके न जाने पावे। भारत के हर एक प्रसंग का तोड़ अन्त में इसी बात पर है।" इन दो वाक्यों में "बरकाया" और "तोड़" शब्दों का प्रयोग बड़ा ही सुन्दर हुआ है। साधारण या ग्रामीण शब्दों का ऐसा सार्थक प्रयोग भारतेन्दु-युग की विशेषता है जिसे बाद के लेखकों ने अपनी उदासीनता से बहुत कुछ खो दिया।

उपन्यास और यथार्थवादी परम्परा

भारतेन्दु ने अपने एक अनुरागी मित्र पं० सन्तोषसिंह को लिखा था—"जैसे भाषा में अब कुछ नाटक बन गये हैं, अब तक उपन्यास नहीं बने हैं। आप या हमारे पत्र के योग्य सहकारी सम्पादक जैसे बाबू काशिनाथ व गोस्वामी राधाचरणजी कोई भी उपन्यास लिखें तो उत्तम हो।" इससे मालूम होता है कि भारतेन्दु को हिन्दी साहित्य के विकास की कैसी चिन्ता थी। फिर भी उनकी प्रेरणा से अनुवाद ही अधिक हुए; मौलिक रचनाओं की ओर ध्यान कम गया। खड्गविलास प्रेस से "पूर्णप्रकाश चन्द्रप्रभा" नाम का जो उपन्यास भारतेन्दु के नाम से प्रकाशित हुआ था, वह शिवनन्दन सहाय के अनुसार किसी दूसरे व्यक्ति का अनुवाद किया हुआ है; भारतेन्दु ने उसमें जहाँ तहाँ संशोधन भर किये थे। "कवि-वचन-सुधा" में उन्होंने एक कहानी "कुछ आप-बीती कुछ जगबीती" लिखना शुरू किया था परन्तु उसे पूरा न कर सके। राधाचरण गोस्वामी ने कई उपन्यासों के अनुवाद किये। यह खेद की बात है कि जो प्रतिभा उन्होंने "यमपुर की यात्रा" में दिखाई, उसे उन्होंने मौलिक उपन्यास रचना में नहीं लगाया।

कलिराज की सभा, एक अद्भुत अपूर्व स्वप्न, राजा भोज का सपना, स्वर्ग में विचार सभा का अधिवेशन, यमपुर की यात्रा आदि रचनाओं में कहानी के अनेक तत्व विद्यमान हैं। इनके लेखक एक काल्पनिक कथावस्तु गढ़कर उसे चरित्र-चित्रण, स्वाभाविक वार्तालाप तथा व्यंग्य और हास्य से सजाना खूब जानते हैं। यदि अपनी प्रतिभा के विकास के लिए निबन्ध जैसा उपयुक्त माध्यम उन्हें न मिला होता, तो वे अवश्य लघुकथा भी लिखना आरम्भ कर देते, इसमें सन्देह नहीं। उस समय जैसे निबन्ध और नाटक प्रधानतः पत्र-पत्रिकाओं में छपते थे, उसी प्रकार तब की कहानियाँ और उपन्यास भी बहुत करके पत्रों की जिल्दों में ही पढ़ने को मिल सकते हैं। इनमें बहुत कम अलग से प्रकाशित हुए हैं। अनेक उपन्यास अधूरे भी छोड़ दिये गये थे; कुछ छोटे थे, कुछ बड़े, किसी की शैली पुराने आलंकारिक ढंग की थी तो किसी की सरल और आधुनिक ढंग की। अभी इस क्षेत्र में खोज के लिए बहुत काफ़ी सामग्री पड़ी है।

"हरिश्चन्द्र-चन्द्रिका" में "मालती" नाम का एक उपन्यास छपा था जिसमें ईश्वर-वन्दना और प्रकृति-वर्णन पुराने आलंकारिक ढंग के हैं। चन्द्रगुप्त और उसके भाई में एक मित्र के कारण तकरार हो जाती है। आपस के इसी भ्रम को लेकर चलनेवाले वैर पर कथावस्तु गढ़ी गई है। कथा में कोई विशेषता न होते हुए भी घटनावैचित्र्य की कमी नहीं है और कहने का ढंग खूब रोचक है।

"पढ़े लिखे बेकार की नक़ल" का ज़िक्र पहले हो चुका है। यह कहानी "हिन्दी-प्रदीप" में छपी थी। बेकारी पर लिखी शायद यह पहली कहानी है। "सारसुधानिधि" में प्रकाशित "तपस्विनी" उपन्यास आलंकारिक शैली के बोझ से दबा हुआ है। कुछ बँगला के कारण, कुछ संस्कृत के प्रभाव के कारण उस समय की पत्रिकाओं में छपे अनेक उपन्यासों की भाषा इस दोष से दूषित है। "बेकार की नक़ल" की शैली बहुत कम लोग अपना सके हैं। राधाचरण गोस्वामी के पत्र "भारतेन्दु" में "अलकचन्द्र" तथा कुछ अन्य कथाएँ छपी थीं, जो कथावस्तु की दृष्टि

से महत्वपूर्ण नहीं हैं परन्तु हास्यरसपूर्ण शैली के कारण पढ़ने में रोचक हैं।

हिन्दी उपन्यासकारों में पहला महत्वपूर्ण नाम श्रीनिवासदास का है। "परीक्षागुरु" ने हिन्दी में एक विशेष प्रकार के कथा-साहित्य को जन्म दिया। इसमें लेखक को उसके नाटकों जैसी सफलता नहीं मिली। कथावस्तु एक अमीर के बिगड़ने और अपने एक सच्चे मित्र की सहायता से सुधरने को लेकर रची गई है। ऐसी ही कथा बालकृष्ण भट्ट के "सौ अजान और एक सुजान" की है। उपन्यासों में इस ढर्रे का श्रीगणेश करनेवाले श्रीनिवासदास थे। सेठों के जीवन से उनका निकट का परिचय था, इसलिये लाला मदनमोहन तथा उनके चाटुकारों का चित्रण अच्छा हुआ है। वर्णन और वार्तालाप की भाषा में स्वाभाविकता है जो पुरानी आलंकारिक शैली के स्थान में इस उपन्यास की नयी देन है। श्रीनिवासदास का लक्ष्य इतना एक अच्छी कथा गढ़ना नहीं है जितना उसे उपदेशात्मक उद्धरणों से भर देना। इसीलिये उन्होंने महाभारत से लेकर स्पेक्टेटर तक देशी और विदेशी साहित्य से सहायता ली है। यह उपदेश का बोझ "सौ अजान और एक सुजान" पर भी लदा हुआ है।

बालकृष्ण भट्ट की रचना बहुत कुछ हितोपदेश से मिलती है। कथा के बीच नीतिपूर्ण श्लोक, दोहों, कहावतों आदि का उद्धृत करना बिलकुल विष्णु शर्मा जैसा है। जहाँ तहाँ इन्होंने संस्कृत की आलंकारिक शैली भी अपनाई है, विशेषकर प्रकृति-वर्णन में। परन्तु भाषा उनकी संस्कृत-गर्भित नहीं होने पाती, इसीलिये ये कृत्रिम वर्णन पढ़ने में सुन्दर लगते हैं। एक आध जगह लम्बे उपदेशों से भी पाठक को उबा देने का प्रयत्न किया गया है। इन दोषों के होते हुए भी उपन्यास-कला के विकास में इस कृति का विशेष स्थान है। यथार्थ चित्रण की ओर इसमें काफी झुकाव दिखाई देता है। यह उस युग के नाटकों के प्रभाव के कारण है। भाषा पात्रों के अनुकूल गढ़ी गई है। नौकर, दासी, चौकीदार आदि अवधी में बोलते हैं; पुलिस के आदमी उर्दू में। पढ़े लिखे बाबू लोगों की भाषा में अँग्रेज़ी का भी पुट रहता है। "मैं आप लोगों के प्रयोचल को

सेकिण्ड करता हूँ" इत्यादि। कहीं कहीं पात्र नाटकों की भाँति स्वतः और प्रकाश दोनों प्रकार से बातचीत करते हैं।

भट्टजी ने अपने उपन्यास को देशकाल की सीमाओं में मजबूती से बाँधा है। उन्होंने पृष्ठभूमि के चित्रण के लिये अवध का भौगोलिक वर्णन आवश्यक समझा है। यह उस समय के लिये नयी बात थी। प्रकृति वर्णन में आलंकारिकता होते हुए भी यथार्थवाद की ओर रुझान है। गर्मी के दिन हैं। सारा संसार मौन दिखाई देता है; केवल पुराने खँडहरों पर चील का किकियाना कभी-कभी सुनाई दे जाता है। दोपहर के समय भिन्न-भिन्न कोटि की स्त्रियों की कार्यवाही का भट्टजी ने बड़ा मनोरंजक वर्णन किया है। कथावस्तु को भली प्रकार गढ़ने की क्षमता के अभाव में इस प्रकार के वर्णात्मक वाक्य-समूह भारतेन्दु-युग के उपन्यासों में जहाँ तहाँ बिखरे दिखाई देते हैं और उन्हें रोचक बनाते हैं। "प्रत्येक गृहस्थ के यहाँ घर-घर सब लोग भोजन के उपरान्त विश्राम-सुख का अनुभव कर रहे हैं, नींद आ जाने पर पंखा हाथ से छूट गया है, खुर्राटे भरने लगे हैं। स्त्रियाँ गृहस्थी के काम-काज से छुटकारा पाय दुधमुँहे बालकों को खिला रही हैं।..........कोई-कोई बड़ी जँगरैतिन गृहस्थी का सब काम शेष होते देख जेठ के दीर्घ दोपहर को ऊब दूर करने को सूप की फटकार से अपने पड़ोसी के विश्राम में विक्षेप डाल रही हैं। हवा के साथ लड़नेवाली कोई कर्कशा न लड़ेगी, तो खाया हुआ अन्न कैसे पचेगा, यह सोच अपने पड़ोसियों पर वाण से तीखे और रूखे वचन की वर्षा कर रही है।........खेलवाड़ी बालक, जिन्हें इस दोपहर में भी खेलने से विश्राम नहीं है, गप्पें हाँकते हुए दूसरे-दूसरे खेल का बन्दोबस्त कर रहे हैं। बँगलों पर साहब लोगों के पक्षाघात का रसिक पंखाकुली अपने प्रभु के पादपद्म को मानो बार-बार झुक-झुक कर प्रणाम करता सा ऊँघ रहा है; पर पंखे की डोरी हाथ से नहीं छोड़ता।"

यथार्थ चित्रण की यह वही भूमि है जिस पर बाद में प्रेमचन्द ने कथासाहित्य में विशाल प्रासाद का निर्माण किया। ऊपर के उद्धरण से मालूम होता है कि भट्टजी कोरे किताबी विद्वान् न थे; स्त्रियों के सूप फट-

कारने और हाथ नचाकर वाग्बाण बरसाने को उन्होंने उतने ही ध्यान से देखा सुना था, जितने ध्यान से मेघदूत पढ़ा था। पंखाकुली के प्रति सहानुभूति न होती तो वह भारतेन्दु-युग के लेखक न होते। साहब के पदाघात से भयभीत होकर कुली का बारबार उनके पादपद्म को प्रणाम करना चित्र और चित्राङ्कन की शैली—दोनों ही दृष्टियों से चमत्कार-पूर्ण है।

चरित्र-चित्रण में भट्टजी आकृति-निदान की ओर विशेष आकृष्ट दिखाई देते हैं। कहीं कहीं पर सामुद्रिक शास्त्र का भी हवाला दे देते हैं। व्यंग्यपूर्ण चित्रण में वह पुनः प्रेमचन्द की याद दिलाते हैं; जैसे बुद्धदास जैन का चित्र—"पानी चार बार छान कर पीता था, पर दूसरे की थाली समूची निगल जाता था। डकार तक न आती थी।" वैसे ही आकृति और वेशभूषा का वह बड़ा सजीव वर्णन करते थे। जैसे बुद्धदास के ही लिये—"उमर इसकी ४० के ऊपर आ गई थी; दाँत मुँह पर एक भी बाकी न बचे थे, तो भी पोपले और खोड़हे मुँह में पान की बीड़ियाँ जमाय, सुरमे की धज्जियों से आँख रँग, केसरिया चन्दन का एक छोटा सा बेंदा माथे पर लगाय, चुनवदार बालावर अंगा पहन, लखनऊ के बारीक काम की टोपी या कभी कभी लट्टूदार पगड़ी बाँध जब बाहर निकलता था, तो मानों ब्रज का कँन्हैया ही अपने को समझता था।" एक ही वाक्य में उन्होंने उस युग के पहनावे की झाँकी खड़ी कर दी है जो अब हमारे लिये बीत चुका है। इससे बालकृष्ण भट्ट का चौकन्नापन और अपने चारों ओर के आदमियों को देखने समझने की उनकी प्रवृत्ति प्रकट होती है।

उनकी भाषा में जहाँ तहाँ हास्य के छींटे वैसे ही हैं जैसे उनके निबन्धों में। सेठ हीराचन्द के देहान्त के बाद उनके लड़के दुर्व्यसनों में पड़ जाते हैं; यानी अब उन्हें "बबुआ" से बाबू साहब बनने का शौक़ चढ़ा।" "बाबू साहब" और "बबुआ" शब्दों की संकेत व्यंजना पर उन्होंने अच्छा श्लेष किया है। उनकी भाषा कहीं कहीं बड़ी चमत्कारपूर्ण और भावप्रकाशन में अद्भुत रूप से समर्थ दिखाई देती है। शिशिर के

बाद बसन्त से जैसे प्रत्येक मनुष्य में एक नई तेजी आती है, वैसे ही "कुसुमबाण की गरमी शरीर में पैठते ही नवयुवा और युवतियों के अंग प्रत्यंग में सलोनापन भीजने लगता है।" वाक्य का अन्तिम अंश संकेत-व्यंजना में अत्यन्त समर्थ है। जवानी में साधारण वर्ग के युवक भी बिगड़ जाते हैं, फिर जो उच्च वर्गों में उत्पन्न हुए हैं, उनके बिगड़ते कितनी देर लगती है। इसी बात को यों कहा है—"अत्यन्त कटीले और मुरझाए हुए पेड़, जिनकी ओर बाग का माली कभी झाँकता भी नहीं, एक साथ हरे भरे हो लहलहा उठते हैं। तब उन नए पौधों का क्या कहना, जो नित्य दूध और दाख-रस से सींचकर बढ़ाए गए हैं।" चाँदी के चम्मच वाले अँग्रेजी मुहावरे से अधिक सार्थक व्यंजना दूध और दाख-रस से सींचे हुए नये पौधों में है।

"सौ अजान और एक सुजान" का कथानक बिल्कुल सीधासादा है। सेठ हीराचन्द के दोनों लड़के पिता की मृत्यु के बाद कुसंगति में पड़ जाते हैं। और अन्त में उनका एक सुजान मित्र संकट से उनकी रक्षा करता है। १६वीं सदी के कुछ विदेशी उपन्यासकारों की भाँति भट्टजी को भी अपने पाठकों से बातचीत करने का मोह है। कहीं कहीं पर उनकी बातचीत में वर्णों जैसी सरलता है, जैसे इस बात में—"इसका रहस्य जानने को कौन न उकताता होगा, किन्तु सहसा किसी रहस्य का उद्-घाटन उपन्यास लेखकों की रीति के विरुद्ध है, इससे इस प्रस्ताव को यहीं समाप्त करते हैं।" पाठक की उत्सुकता जाग्रत करके उसे सन्तुष्ट न करने में उन्हें बाल-सुलभ आनन्द प्राप्त हुआ है। उपदेश देना तो उनका लक्ष्य है ही। संस्कृत से अनेक श्लोक उन्होंने इसीलिये उद्धृत किये हैं। परन्तु कभी कभी ऐसे दोहे या शेर भी उद्धृत करते हैं जिनसे उपदेश सरस हो जाता है, जैसे—

"क्या लुत्फ़ फँसा कफ़स में यह पुराना चहूल।
लगी गुलशन की हवा दुम का हिलाना गया भूल॥"

यह शेर पंचानन नाम के एक सज्जन की बातचीत में आता है। इस तरह की बातों से भट्टजी की विनोदप्रियता प्रकट होती है जिससे उनका

उपन्यास शुष्क नहीं होने पाया। उनके उपदेश के बारे में भी दो शब्द कह देना उचित है। उनका लक्ष्य युवकों को ब्रह्मचर्य का उपदेश देना नहीं है। युग की स्वाभाविक उदारता से उन्होंने जीवन का ध्येय पूर्ण मनुष्यत्व का विकास रखा है और यह विकास इसी जीवन में, इसी संसार में होना चाहिये। धर्म, अर्थ और काम का उचित सामञ्जस्य मनुष्य के विकास के लिये आवश्यक है। मोक्ष को गिनाना वह भूल गए हैं या उन्होंने उसे जानबूझकर छोड़ दिया है। अपने लक्ष्य का औचित्य सिद्ध करने के लिये उन्होंने संस्कृत की यह उक्ति उद्धृत की है—

धर्मार्थकामाः सममेव सेव्याः
यस्त्वेकसेव्यः स नरो जघन्यः।

धर्म, अर्थ और काम तीनों को ही जीवन में प्रतिफलित करना उचित है; जो केवल एक की सेवा करता है वह व्यक्ति जघन्य है। इस प्रकार भट्टजी धर्मभीरु उपदेशकों से भिन्न हैं। वह किसी हद तक शंकराचार्य के इसीलिए विरोधी थे कि उन्होंने मनुष्य को इसी संसार में पूर्णता पाने के लिये न कह कर उसके सामने वैराग्य और उदासीनता का एकांगी आदर्श रखा था।

राधाकृष्णदास के "निःसहाय हिन्दू" में यथार्थवाद का रंग और भी गहरा है। जैसा कि नाम से ही प्रकट है, इस उपन्यास का सम्बन्ध हिन्दू समाज से विशेष है। परन्तु इसकी विशेषता इस बात में है कि लेखक ने यहाँ सेठ साहूकारों के लड़कों के बनने बिगड़ने की कहानी छोड़ कर एक ऐसी समस्या को अपनी कथावस्तु बनाया है जिसका सम्बन्ध किसी वर्ग से नहीं, वरन् पूरे समाज से है। हिन्दुओं के बारे में लिखते हुए वह मुसलमानों को नहीं भूले और उनमें साम्प्रदायिक और देशभक्त दोनों प्रकार के मुसलमानों का चित्रण किया है। दो मित्र गोवध बन्द करने के लिए एक आन्दोलन करते हैं, उनका साथ एक मुसलमान सज्जन भी देते हैं। अन्य कट्टरपन्थी मुसलमान षड्यन्त्र करके इन लोगों को मार डालना चाहते हैं और अन्त में दोनों ही ओर के कुछ लोग मारे जाते हैं। यही इसकी कथा है।

"निःसहाय हिन्दू" की दूसरी विशेषता उसके चित्रण में है। आरम्भ में बनारस की गर्मी का वर्णन है। मकान इतना तप गए हैं मानों उनमें से लपट उठना चाहती है। दूसरे परिच्छेद में एक तंग कोठी और उसके भीगे टाट का वर्णन है। सभा में जब मदन व्याख्यान देने जाता है तब लेखक ने भीड़ की हलचल दरसाने की पूरी चेष्टा की है। मदन अपने व्याख्यान में भारतवासियों के आलस्य का ज़िक्र करता है और उन पर टैक्स लगाये जाने पर खेद प्रकट करता है। "टैक्स लगाया गया कि जिससे सारी प्रजा दुःखित हो रही है" परन्तु "ऐसे मूर्खों ही को छोड़ दें तो किससे लें ?" गंगा के किनारे दो बनारसी गुण्डों की बातचीत सुनने को मिलती है जो कुछ हेर फेर से वहाँ अब भी सुनी जा सकती है। ऐसे ही उन गलियों का ज़िक्र किया गया है जहाँ गर्मी में भी धूप नहीं पहुँचती। हाजी अताउल्लाह, अब्दुल अज़ीज़ आदि के घरों का भी सजीव चित्र खींचा गया है। पुस्तकालय में लोग बनारसी लहजे में बातें करते सुनाई पड़ते हैं जैसे वे आज भी काशी नागरी प्रचारणी सभा के पुस्तकालय में बातें करते देखे जा सकते हैं। इस उपन्यास में सर्वत्र पाठक अपने चारों ओर की वस्तुओं का चित्रण पाता है। गर्मी में छत पर बैठने से जिस भभक का अनुभव होता है उससे लगाकर पुस्तकालय में एक गोरे के पायनियर अख़बार देखने आने से सब लोगों में खलबली मच जाने तक सब कहीं राधाकृष्णदास की सतर्क दृष्टि और उनके यथार्थ चित्रण के उदाहरण हमें मिलते हैं।

"निःसहाय हिन्दू" में कथानक सुसंगठित नहीं है परन्तु पाठक को यह बोध होता रहता है कि उसके पैर यथार्थ भूमि पर ही टिके हैं। पात्रों की संख्या इसमें आवश्यकता से अधिक है परन्तु वे सभी सजीव हैं। अपने चारों ओर के मानव-समुदाय को चित्रित करने की उत्सुकता में लेखक ने यह नहीं सोचा कि उपन्यास के लिए कितनी सामग्री यथेष्ट होगी। वार्तालाप में यथार्थ चित्रण का आदर्श नाटकों में था ही। पात्रों के अनुरूप उनकी बातचीत भी है। गन्दी गलियों और कोठरी

के दातों के वर्णन की ओर भारतीय उपन्यास-साहित्य में यह पहला प्रयत्न था। निःसन्देह राधाकृष्णदास में एक महान् उपन्यासकार की प्रतिभा बीजरूप में विद्यमान थी। यदि उसे विकास का अधिक अवसर मिलता तो प्रेमचन्द का मार्ग और भी सरल और परिष्कृत हो जाता।

जिस प्रकार भारतेन्दु-युग में निबन्ध रचना से हम बहुत सी बातें सीख सकते हैं, उसी प्रकार उपन्यास से भी सीखने समझने के लिए बहुत कुछ बातें हैं। अनेक उपन्यास कादम्बरी के आदर्श के कारण आलंकारिक शैली में दबे हैं। दूसरे उपन्यास बँगला की कृत्रिम कवित्वपूर्ण शैली से प्रभावित हैं। उपन्यास और कहानियों का विकास जल्दी न हुआ, इसका मूल कारण निबन्धों की लोकप्रियता थी। रोचक निबन्धों में कथाएँ भी गढ़कर लेखक अपनी कथा-साहित्य वाली रचनात्मक प्रतिभा का वहीं उपयोग कर लेते थे। तीसरी कोटि के उपन्यास वे हैं जिन पर उस समय के नाटकों और निबन्धों का प्रभाव है। नाटकों में यथार्थ चित्रण और सामयिक समस्याओं के विवेचन की प्रधानता होती थी। इन सब बातों को उपन्यास-लेखकों ने सहज ही अपना लिया। राधाकृष्णदास, बालकृष्ण भट्ट, श्रीनिवासदास—सभी को पात्रों की वार्ता में सफलता मिली है। "सौ अजान और एक सुजान" में नाटकों का प्रभाव अत्यधिक झलकता है। वार्तालाप के साथ पात्रों के आकार, वेशभूषा आदि के चित्रण में भट्टजी ने मौलिकता का परिचय दिया है। राधाकृष्णदास ने कथा को पृष्ठभूमि को ओर भी उभारकर रखा है। नगर के गली कूचों के चित्रण में उन्होंने एक यथार्थवादी लेखक की सी रुचि दिखाई है। इस प्रकार भारतेन्दु-युग में उपन्यास के अनेक अंगों का विकास हो चुका था, आवश्यकता अब एक ऐसे कलाकार की थी जो कल्पना से अपने अनुभव को कथारूप देकर इन अंगों को सुगठित करके उन्हें एक पूर्ण कलाकृति का रूप दे सके। इसके लिए आवश्यक था कि कविता और नाटकों का युग बीत जाय और गद्य में लोग निबन्धों से बड़ी रचनाएँ पढ़ने के अभ्यस्त हों। उपन्यास का पूर्ण विकास प्रेमचन्द के समय में हुआ परन्तु

बालकृष्ण भट्ट, राधाकृष्णदास आदि की रचनाएँ पढ़ने से मालूम [illegible] जाता है कि प्रेमचन्द की सुधारात्मक यथार्थवादी परम्परा का हिन्दी के उपन्यास-साहित्य में पहले ही बीजारोपण हो चुका था। उसी परम्परा का "सेवासदन" और "रंगभूमि" में विकास हुआ।

कविता—भारतेन्दु और प्रतापनारायण मिश्र

भारतेन्दु-युग के काव्य-साहित्य को पढ़ने से एक विचित्र कोलाहल का सा अनुभव होता है। विभिन्न धाराओं के एक साथ मिलने से पाठक को आकाशभेदी कलकल ध्वनि सुनाई पड़ती है। कुछ लोग नायिकाओं के नख-शिख-वर्णन में लगे हैं तो दूसरे प्रतिभावान समस्या-पूर्ति में चमत्कार दिखा रहे हैं। अन्य कवि महामारी, अकाल, टैक्स पर लोकगीत रच रहे हैं और कुछ लोग कविता में गद्य की भाषा के प्रयोग भी कर रहे हैं। तात्पर्य यह कि काव्य-साहित्य में व्यवस्था का अभाव है, पुरानी रूढ़ियों पर चलनेवाले काफ़ी हैं तो साहस से नये प्रयोग करनेवालों की भी कमी नहीं है। ऐसे लोग भी अनेक हैं जो कुछ दिन रूढ़ियों पर चलने के बाद इन नये प्रयोगों की ओर झुक रहे हैं। दरबारी संस्कृति और नवचेतना का संघर्ष कविता में ही सबसे ज्यादा दिखाई देता है। निबन्ध एक नया माध्यम था; इसलिये उसमें रूढ़ि के अनुकरण का प्रश्न उठता न था। कविता में एक महान् और बहुविध साहित्य की सृष्टि पहले ही हो चुकी थी; इसलिए उससे तुरन्त मुँह मोड़ लेना एक दैवी चमत्कार से कम न होता।

भारतेन्दु-युग और स्वयं भारतेन्दु के दरबारी संस्कारों का उल्लेख पहले हो चुका है। समस्यापूर्ति करना उस समय का एक लोकप्रिय साहित्यिक दुर्व्यसन था। भारतेन्दु भी उससे नहीं बचे थे। इसके अतिरिक्त भक्ति और शृङ्गार-रस की परम्पराएँ भारतेन्दु-युग तक बढ़ती चली आई थीं। भारतेन्दु ने सैकड़ों पद पुराने भक्त कवियों की परिपाटी पर बना डाले थे। अधिक महत्वपूर्ण इन कवियों की लोक-गीतों के ढंग पर रची गई कविताएँ हैं जिनमें कहीं कहीं तो लोक-गीतों जैसे भाव भी हैं और कहीं कहीं उनमें नये राजनीतिक और सामाजिक सन्देश हैं। भारतेन्दु-युग के मध्यकाल में, भारतेन्दु के जीवन में ही, खड़ी बोली सम्बन्धी आन्दोलन आरम्भ हो गया था। स्वयं भारतेन्दु ने कविता में गद्य की भाषा के प्रयोग को आवश्यक समझकर उसमें रचना-कार्य आरम्भ कर दिया था। उन्हें इस कार्य में प्रोत्साहन न मिला, इसलिये उन्होंने ढील डाल दी। बाद को ब्रजभाषा-प्रेमियों ने कहा कि जब भारतेन्दु को ही कविता में सफलता न मिली तो और कवि किस गिनती में हैं।

भारतेन्दु की ब्रजभाषा की कविता में एक आत्मीयता और स्वाभाविकता है जो उनके पहले के कवियों में नहीं मिलती। कविता का विषय शृङ्गार रहने पर भी भारतेन्दु रीतिकालीन परम्परा से बहुत कुछ भिन्न हैं। उनके छन्द लक्षण ग्रन्थों के आधार पर नहीं बने; उनमें आत्माभिव्यञ्जन के लिये एक नया प्रयास है। "सीधेन सों सीधे, महा बाँके हम बाँकेन सों, हरीचन्द नगद दमाद अभिमानी के"—यह ब्रजभाषा-कविता में एक नया स्वर था। कवि अभी तक अपने बारे में अधिकतर चुप्पी साधे रहते थे; हरिश्चन्द्र ने उस परम्परा को तोड़कर अपने पाठक से बड़ी आत्मीयता से बातचीत करना आरम्भ किया। ऐसे ही "कहैंगे सबै ही नैन नीर भरि भरि पाछे, प्यारे हरीचन्द की कहानी रह जायगी"—में आधुनिक लिरिक कविता का नया स्वर हम सुन सकते हैं।

उनकी कविता पढ़ते समय उन पर अनेक पुराने कवियों का प्रभाव हमें स्पष्ट दिखाई देता है। चन्दमा और विनती के अनेक पदों में सूरदास

की छाप है; कहीं कहीं पर तुलसीदास की विनयपत्रिका की ध्वनि भी सुनाई देती है।

"नवल नील मेघवरन, दरसत त्रयताप हरन, परसत सुखकरन, भक्तसरन जमुनवारी"*

या

"घोष सीमन्तिनी, गान मङ्गल सवद, श्रवन पुट जात दुख दुरित दारिद दरत"*

आदि पंक्तियों में विनयपत्रिका की हिल्लोल है। "भई सखि ये अँखियाँ बिगरैल" आदि पदों में मीराबाई की उन्मत्त तन्मयता की झलक है। वैसे ही किन्हीं-किन्हीं छन्दों में रसखान की भी भक्ति है—

"धिक देह औ गेह सबै सजनी
जिहि के बस नेह कौ टूटनो है।"

ऐसी पंक्तियाँ "या लकुटी अरु कामरिया" की याद दिलाती है। भारतेन्दु के अधिकाश पद साधारण हैं। परन्तु किन्हीं-किन्हीं में उनका उत्कट आत्मनिवेदन देखते ही बनता है।

"ससि सूरज ह्वै रैन दिना तुम हियनभ करहु प्रकास"+

में आधुनिक कवियों की सी चित्र-व्यञ्जना है। ऐसे ही——

"नभ ह्वै पूरौ मम आँगन में पवन होइ तन लागौं"+

और

"श्रवनन पूरौ होइ मधुर सुर अंजन ह्वै दोउ नैन"

आदि पंक्तियों में बंगाल के वैष्णव कवियों का स्वरमाधुर्य है। भक्तिरस के पदों में हरिश्चन्द्र सूरदास की परम्परा का अनुकरण कर रहे हैं; किन्हीं-किन्हीं शृङ्गार-रस के पदों में वह सूरदास के इस प्रकार के सर्वश्रेष्ट पदों से टक्कर लेते हैं।

"आजु उठि भोर वृषभानु की नन्दिनी फूल के महल तें निकसि ठाढ़ी भई।
खसित सुभ सीस तें ललित कुसुमावली मधुप की मंडली मत्त रस ह्वै गई।"

छंद की विलम्बित गति, शब्दावली का लालित्य और चित्र का सौन्दर्य सभी सूरदास के उत्कृष्ट पदों से होड़ करते हैं। घनाक्षरी में जहाँ तहाँ भारतेन्दु का शब्द-सौन्दर्य खूब बन पड़ा है—

* "कृष्णचरित्र" में। + "विनय प्रेम पचासा" में

"थाकी गति अंगन की, मति परि गई मन्द,
सूखि झाँझरी सी ह्वै कै देह लागी पियरान।"

या

"कूकै लगीं कोइलैं कदम्बन पै बैठि फेर धोए धोए पात हिल-हिल सरसै लगे"
आदि छन्दों में उनका शब्दगठन कवित्त के सर्वोत्कृष्ट रचयिताओं का सा है।

हरिश्चन्द्र ने नये ढङ्ग के अनेक गीत अपने नाटकों में लिखे थे।

"सोओ सुख निंदिया प्यारे ललन"

या

"प्यारी बिन कटत न कारी रैन"

आदि गीतों की बन्दिश पुराने गीतों जैसी नहीं है। "सत्य हरिश्चन्द्र" के कुछ दोहों में अद्भुत ओज है—

"बेंचि देह दारा सुवन, होय दास हू मंद;
रखिहै निज बच सत्य कर, अभिमानी हरिचंद।"

यह उन्हीं के जीवन की प्रतिज्ञा थी जिसे नाटक में उद्धृत करते समय सहज ही व्यक्तिगत चरित्र की आभा झलक आई है। चौपाई छन्द का प्रयोग भी उन्होंने बहुत ही सफल किया है और ऐसे चित्रण के लिये किया है जो रीतिकालीन कविता के लिए नया था—

"भुजबल जे नहिं भुवन समाए, ते लखियत मुख कफन छिपाए।"

यह हिन्दी में एक नये ढंग का चिन्तन था। "नव उज्ज्वल जलधार" आदि छन्दों में गंगा का आलंकारिक वर्णन है; ऐसे ही काशी-सम्बन्धी छन्द भी कृत्रिम हैं। पौराणिक नाटक में यथार्थवाद के लिये ज्यादा गुंजाइश भी न थी। काशी का सच्चा रूप "प्रेमयोगिनी" में है। काशी-सम्बन्धी कविता तथा सामाजिक ध्येय को लेकर लिखी गई नाटकों की अन्य ऐसी ही व्यंग्य और हास्यपूर्ण रचनाओं का उल्लेख पहले किया जा चुका है। भारतेन्दु ने जन-साहित्य की जो योजना बनाई थी, उसके अनुकूल ही उन्होंने अपनी ये कविताएँ लिखी थीं।

इनके अतिरिक्त उन्होंने खुसरो के अनुकरण पर कुछ पहेलियाँ लिखी थीं। ये पहेलियाँ थोड़े से शब्दों में एक अत्यन्त रोचक ढंग से कुछ विशेष विचारों को जनता में फैला देने के लिये बड़ा अच्छा साधन हैं। भारतेन्दु-युग के जन-साहित्य का ठीक उदाहरण "रोवहु भारत भाई" में नहीं है। उस युग की जिन्दादिली की सभी दाद देते हैं परन्तु उस गीत में इस जिन्दादिली का ही अभाव है। अँग्रेज़ों के सम्बन्ध में भारतेन्दु की एक मुकरी पहले उद्धृत की जा चुकी है।

अँग्रेज़ी सभ्यता पर एक दूसरी मुकरी है—

"सब गुरुजन को बुरो बतावें, अपनी खिचड़ी अलग पकावें।
भीतर तत्त्व न झूठी तेजी, क्यों सखि सज्जन, नहिं अँगरेजी।"

शिक्षा और बेकारी पर—

"तीन बुलाए तेरह आवैं, निज निज बिपता रोइ सुनावैं।
आँखौ फूटे भरा न पेट, क्यों सखि सज्जन नहिं ग्रेजुएट।"

सरकारी अमलों पर—

"मतलब ही की बोलै बात, राखै सदा काम की घात।
डोलै पहिने सुन्दर समला, क्यों सखि सज्जन, नहिं सखि अमला।"

पुलिस, भारतवर्ष की प्रातःस्मरणीय पुलिस, पर—

"रूप दिखावत सरबस लूटै, फन्दे में जो पड़ै न छूटै।
कपट कटारी हिय में हूलिस, क्यों सखि सज्जन, नहिं सखि पूलिस।"

इसी तरह कचहरी-कानून, खिताब, विधवाविवाह, शराब आदि के बारे में भी उन्होंने मुकरियाँ लिखी थीं। इनसे भारतेन्दु और उनके युग की जागृति का पता चलता है।

भारतेन्दु ने अपनी छोटी सी आयु में दरबारी संस्कृति का स्वप्न देखा, चोते आर्य-गौरव के गीत गाये और अन्त में उन्हें यथार्थ के कटु अनुभव ने यह भी बताया कि शोषण के यन्त्र कहाँ और कौन हैं जिन पर प्रहार करना आर्य-गौरव के गीत गाने से अधिक महत्वपूर्ण है। भारतेन्दु-युग के बाद का साहित्य इन्हीं शोषण-यन्त्रों को लक्ष्य करके रचा गया है। भारतीय साहित्य में पहले भारतेन्दु ने इस नव प्रगति

का निर्देश किया था। "आनन्द मठ" की भूमिका में बंकिमचन्द्र ने लिखा था कि बंगालियों की लड़ाई मुसलमानों से है न कि अँग्रेज़ों से। बंकिमचन्द्र में भावुकता है, पुरातन से प्रेम है परन्तु यह नव चेतना नहीं है। उन्होंने पुलिस और ब्रिटिश साम्राज्यवाद के क़ानून पर कलम नहीं उठाई। सर सैयद अहमद का पुलिस और क़ानून के विरुद्ध लिखना-लिखाना तो दूर, उनकी सबसे बड़ी लालसा यही थी कि मुसलमानों और अँग्रेज़ों में खानपान का व्यवहार होने लगे और मुसलमानों में हिन्दुओं के प्रति शासकवाला भाव क़ायम रहे। पुलिस, किसान, क़ानून, टैक्स, महामारी, अकाल आदि से उन्हें कोई खास सरोकार न था। संसार में जैसा किसी भाषा का विरोध नहीं हुआ, वैसा सरकारी अमलों और साम्प्रदायिकों द्वारा विरोध होने पर भी हिन्दी लेखकों ने जन-साहित्य और जन-भाषा के लिये युद्ध किया। उनके हृदय में अकाल, टैक्स, पुलिस के अत्याचार आदि से जो टीस होती थी, उसका प्रमाण यह पुस्तक है। निर्भय होकर उन्होंने ब्रिटेन की साम्राज्यवादी नीति की निन्दा की। भारतीय इतिहास में ये शब्द स्वर्णाक्षरों में लिखे जाने योग्य हैं। आज हम सभी उन बातों को दोहराते हैं परन्तु सर सैयद और सितारेहिन्द के युग में जिन लोगों ने पहलेपहल अपनी वाणी से जनता को सजग किया था, उनमें शहीदों की आनबान थी। भारतेन्दु ने ही कहा था कि जब तक सौ दो सौ मनुष्य बदनाम न होंगे, दरिद्र न होंगे, क़ैद न होंगे वरन् जान से न मारे जायँगे तब तक कोई भी देश न सुधरेगा।

× × ×

प्रतापनारायण मिश्र के हृदय में स्वदेशी और स्वदेश के प्रति जो प्रेम रहा है, उसे हम उनके निबन्धों में देख चुके हैं। वही प्रेम उनकी कविता में भी प्रकट है। जैसे उनके गद्य की भाषा अवधी की भूमि पर स्थिर है, वैसे ही उनकी कविता की भाषा अवधी ही है या उस पर अवधी की गहरी छाप है। जो हास्यरस उनके निबन्धों में है, वही उनकी पद्य-कृतियों में भी। उनकी "अरे बुढ़ापा!" कविता सभी जानते

हैं। उनका वन्दना-गीत "पितु मातु सहायक स्वामि सखा" भी खूब प्रसिद्ध है और खूब ही गाया जा चुका है। उनकी एक पुस्तक "लोकोक्ति शतक" है जिसमें गाँवों में प्रचलित कहावतों को लेकर अनेक प्रकार के छन्द लिखे गये हैं। इन छन्दों में व्यंग्य और हास्य के साथ किसी न किसी प्रकार का छिपा उपदेश है। देश-सेवा पर लिखा है—

"पढ़ि कमाय कीन्हों कहा, हरे न देस कलेस।
जैसे कन्ता घर रहे, तैसे रहे बिदेस॥"

बाबू-कल्चर पर—

"तन मन सों उद्योग न करहीं, बाबू धनिकि के हित मरहीं।
परदेसिन सेवत अनुरागे, सब फल खाय धतूरन लागे।"

विदेशी शासन के आर्थिक पहलू पर—

"सबसु लिए जात अङ्गरेज, हम केवल लेक्चर के तेज।
श्रम बिन बातें का करती हैं, कहुँ टट्टकन गाजें टरती हैं।"

बहुत "सभ्य" भाषा नहीं है परन्तु यह उन लोगों के लिये लिखा गया है जिनके लिये सर्वस्व छिन जाने पर सभ्य होना बहुत कठिन हो गया है।

स्वतन्त्रता पर उन्होंने लिखा था—

"सब तजि गही स्वतन्त्रता, नहिं चुप लाते खाव।
राजा करै सो न्याव है, पाँसा परै सो दाँव॥"

इसी तरह हिन्दी और स्वदेशी पर—

"छोड़ि नागरी सुगुन आगरी उर्दू के रँगराते।
देसी वस्तु बिहाय बिदेसिन सों सर्वस्व ठगाते॥
मूरख हिंदू कसन लहैं दुख जिनकर यह ढँग दीठा।
घर की खाँड़ खुरखुरी लागै चोरी का गुड़ मीठा॥"

इस प्रकार अन्य छन्दों में भी उन्होंने कहावतों का सफल प्रयोग किया है। वास्तव में छन्द उन्होंने कहावतों पर लिखे हैं परन्तु बातें ऐसी कही हैं जिनसे मालूम होता है कि कहावतें यों ही आ गई हैं, कविता उन विशेष बातों के लिए लिखी गई है।

जैसे भारतेन्दु ने काशी के लिए "देखी तुमरी कासी" कविता लिखी थी, वैसे ही प्रतापनारायण मिश्र ने कानपुर पर एक आल्हा लिखा था। कानपुर के ब्राह्मण-समाज की हठधर्मी और स्वामी दयानन्द के स्वार्थपूर्ण विरोध की इसमें खूब खबर ली गई है। भारतेन्दु की भाँति मिश्रजी भी स्वामीजी के विरोधी थे। परन्तु उन कट्टरपन्थियों के वह और भी विरोधी थे जो अपनी उदरपूर्ति के विचार से समाज में प्रचलित कुरीतियों को बनाये रखने के लिए आर्य-समाज का विरोध करते थे। ऐसे लोगों ने स्वामीजी पर कभी गालियों की, कभी ईंटों की वर्षा की। कानपुर में एक ब्राह्मणों की सभा होती है जिसमें कोई वेद मँगवाने को कहता है। स्वामीजी के विरोधी इन स्वार्थी पण्डितों के घर वेद का निशान भी नहीं है, यद्यपि वे वेदों के पीछे ही स्वामीजी पर ईंटें फेंकने को तैयार थे।

"पोथी केहि के घर ते आवै कबहूँ सपन्यों देखा नाहिं।
रिगबिद जुजबिद साम अथरबन सुनियत आलइलएड के माहिं॥"

तब किसी ने कहा कि चन्दा करके वेद मँगाये जायँ; इस पर सब लोगों ने अपने अपने घरों की राह ली। कवि बेचारा निराश हो गया—

"मरत मरत दयानँद मरिगे हिंदू रहे आजु लगि सोय।
पूत बियाहैं पाँच बरस को गहने धरत फिरें घरबार॥
रुपया फेकैं जल्लादन पर घर भरि देयँ पतुरियन क्यार।
वेद मँगैवे के चन्दा को सुनते नाम सूखि जिउ जाय॥"

इस प्रकार यह सभा समाप्त हुई। एक दूसरी सभा गोरक्षा आन्दोलन के लिये होती है। प्रतापनारायण मिश्र ने उस समय के लोगों की वेशभूषा और आचार व्यवहार का एक सुन्दर चित्र खींचा है।

"गरे जँजीरैं हैं सोने की मानौ बँधुआ कलजुग क्यार।
बाँध अनन्त्या कोउ कोउ पहिरे ढड़िया मनौ गेडरियन क्यार॥
घड़ी अँगरखन माँ कोउ खोंसे हिंदुना छड़ी धरे कोउ ज्वान।
भरि भरि चुटकी सुँघनी सूँघै कोउ कोउ चरचर चाबैं पान॥"

मिश्रजी वेशभूषा में सादगी पसन्द करते थे। सोने की जंजीर पहन कर जो लोग समाज में अपने को बहुत प्रतिष्ठित समझते थे, उन्हें कलि-

युग का गुलाम कहा है। इसी तरह बाँह में सोने का अनन्त पहनने वालों की तुलना स्त्रियों से की है। मिश्रजी कुश्ती और कसरत के हिमायती थे। दंगल पर जो आल्हा लिखा है, उसके आरम्भ में इनका एक छप्पय है—

"[illegible] डंड नित उठि करै, रोग न रहै सरीर।
दुस्मन दावादार हो, डर नहिं आवै नीर॥
डर नहि आवै तीर, रहै मन मस्त सदाहीं।
लगन बुढ़ापा होय, घटै कबहूँ बल नाहीं॥
रहै अक्खड़ अलबेत, छानि कै भंग दुबारा।
भजो सदाशिव शक्ति, करो नित उठि डंड ग्यारा॥"

कानपुर के रुजगारियों के प्रति उनके मन में बड़ी घृणा है—

"सौदा बेचैं नाचैं गावैं बैठैं तुलकन का विकलाय।"

कुश्ती और दंगल से इन्हें काम नहीं है; दो तरह की लड़ाई ये लोग अलबत्ता जानते हैं, एक अदालत की और दूसरी नैनों की।

"लड़ैं अदालति बढ़ि बढ़ि हाथन हँसि हँसि नैना लेइँ लड़ाय।
पकड़ लड़िबो सब जानत हैं, कुश्ती उनसी कौन बलाय॥"

रुपया, अठन्नी और चवन्नी के टिकट लेने वालों का वर्णन भी देखिए—

"देइँ रुपैया चेहरे साही उइ कुरसिन पर बैठैं आय।
और अठन्नी के सरचैया बैठैं तँबुआ के तर जाय॥
जिन्हैं चवन्नी की समरथि है तिनको हाल देउँ बतलाय।
ठाढ़े सूखैं रे घामै माँ बूँदी परतै आयँ हनाय॥"

जैसे आज दंगल होते हैं, वैसे ही तब भी होते थे। वैसे ही जुआ और वैसे ही पुलिस का भीड़ पर डंडे बरसा कर उसे शान्त करना। गर्मी के मारे प्राण तालू में लग रहे हैं परन्तु जगह छोड़ कर जाने की किसी में हिम्मत नहीं है।

"मारे गरमी के जिउ निकरै औ मुँह सूखि सूखि रहि जाय।
उठि कै जैये जो पानी को तौ फिर ठौर मिलन को नाहिं।"

अन्त में प्रबन्धकों से दंगल का और अच्छा इन्तजाम करने की

प्रार्थना के साथ मिश्रजी ने इस आल्हा को समाप्त किया है।

मिश्रजी ने दंगल की भीड़भाड़, पहलवानों के दाँवपेंच, जनता की धूप में परेशानी, बिना टिकिट देखने वालों का डंडों से सत्कार आदि बातों का बड़ा रोचक वर्णन किया है। आजकल के बहुत से जुल्फ चिकनाने वाले बाबू लोगों को यह असभ्यता मालूम होगी कि कोई लेखक कुश्ती आदि का वर्णन करे। कुश्ती में तो बदन में मिट्टी लग जाती है और डंड लगाने से दिमाग कमजोर हो जाता है। ऐसी कविता की प्रशंसा करना वे शायद और भी असभ्य समझेंगे। उनसे निवेदन है कि वे ग्रीक सभ्यता का अध्ययन करें, जिस सभ्यता से यूरुप की सभ्यता का जन्म हुआ है। ग्रीक युवकों की शिक्षा में संगीत, वक्तृत्व-कला और कसरत अनिवार्य विषय थे। इसीलिये वे प्रत्येक विद्वान का सुडौल और सुगठित होना भी आवश्यक समझते थे। वे लोग अखाड़े में जाकर कुश्ती लड़ते थे और एक हँसिया की तरह की चीज से बदन से मिट्टी काछते थे। यदि हमारे अर्द्ध शिक्षित और असंस्कृत बाबू लोग प्लेटो की पुस्तकें पढ़ें तो उन्हें मालूम होगा कि ग्रीस के सबसे महान विचारक और साहसी पुरुष सुकरात को अखाड़े में जाते किसी प्रकार की लज्जा न होती थी। स्वास्थ्य और व्यायाम में दिलचस्पी होना प्रत्येक जागृत युग का लक्षण है। प्रतापनारायण मिश्र कानपुर के सोने की जंजीर पहनने वाले, जुल्फ चिकनाने वाले व्यापारियों और उनकी संस्कृति से प्रभावित अन्य वर्गों के लोगों में कुश्ती-कसरत के प्रति अश्रद्धा देखकर खीझते थे। इसीलिये उन्होंने इतने तीव्र शब्दों में कहा है कि इन्हें या तो अदालत में लड़ना आता है या नैन लड़ाना आता है।

प्रतापनारायण मिश्र की एक अत्यन्त प्रशंसित कविता है "ब्रैडला-स्वागत" जिसका अँग्रेजी में अनुवाद करके पिनकौट ने उसे इङ्गलैंड के एक पत्र में छपाया था। इसकी शैली अत्यन्त ओजपूर्ण है और देश की गरीबी का इसमें बड़ा करुण वर्णन किया गया है। दुर्भाग्य से मुझे वह पूरी कविता देखने को नहीं मिली। कुछ पंक्तियाँ 'सरस्वती'

के एक लेख में उद्धृत की गई थी जिसे अभ्युदय प्रेस में प्रकाशित प्रतापनारायण मिश्र के निबन्ध-संग्रह "निबन्ध-नवनीत" की भूमिका के रूप में दिया गया है। इनमें नोन, तेल, लकड़ी और घास पर भी टैक्स लगाने का उल्लेख करके कहा गया है कि देशवासियों के लिये कृषि, शिल्प, वाणिज्य, सेवा,—किसी में भी कोई तत्व नहीं है। इस कविता की कुछ पंक्तियाँ मैंने पं० श्रीनारायण चतुर्वेदी से सुनी थीं जो इस प्रकार हैं—

"बहुतेरे श्रम द्वार द्वार मगन बनि डोलहिं।
बनिक नाज हित दीन वचन जेहि तेहि ते बोलहिं।
बहुत लोग परदेस भागि अरु भागि न सकहीं।
जोगी जटाली करि घरीगृह पथ तकहीं।
पेट अधम अनगिनतिन अकरम करम करावत।
दारिद दुरगुन पुंज अमित दुख हिय उपजावत।
यह जिय धरकत यह न होइ कहुँ कोउ सुनि लेई।
कछू दोष दै मारहि अरु रोवन नहिं देई।"

ये पंक्तियाँ उस कवि की लिखी हैं जिसने देश की निर्धनता को निकट से देखा है, जो जानता है कि गरीबी किस प्रकार मनुष्य के आत्मसम्मान का गला घोंट देती है और उसे नीच से नीच काम करने के लिये प्रेरित करती है। जगदीश्वर के समान दिल्लीश्वर भारत-सम्राट अकबर के शासन-काल में हिन्दी के सर्वश्रेष्ठ कवि तुलसीदास ने जनता की गरीबी को लक्ष्य करके लिखा था—

"खेती न किसान को, भिखारी को न भीख बलि,
बनिक को बनिज न चाकर को चाकरी।"

महारानी विक्टोरिया के राज्य में जहाँ सूर्य अस्त न होता था, प्रतापनारायण मिश्र ने लिखा था—

"जहँ कृषि, वाणिज्य, शिल्प, सेवा सब माहीं।
देसिन के हित कछू तत्व कहुँ कैसेहु नाहीं।"

साम्राज्यवाद की भूख ऐसी ही है। उसके मुँह से गरीब प्रजा के

लिये पेट भर अन्न बचना कठिन है। भारतीय प्रजा की जैसी मानसिक दशा सदियों की गुलामी और अत्याचार में रही है, वह इन शब्दों में खूब प्रकट हुई है—

"पट निज धरकत यह न होइ कहुँ कोउ सुनि लेई।
कछू दोष दै मारहि अरु रोवन नहिं देई॥"

निबन्ध-लेखक प्रतापनारायण मिश्र के चित्र का यह वह भाग है जहाँ प्रकाश के बदले गहरी छायाएँ हैं। जो मनुष्य हास्य और व्यंग्य की चुहल से भरे मनोरंजक निबन्ध लिख सकता था, उसके हृदय में ऐसी ही टीस थी। ओठों पर छलकती हँसी के नीचे, यह दुःसह व्यथा छिपी थी कि—

पेट अधम अनगिनतिन, अकरम करावत।"

हास्य और करुणा का अद्भुत सम्मिश्रण "तृप्यन्ताप" में है। यह एक लम्बी कविता है जिसमें ८६ छन्द हैं और अन्त में एक दोहा है। इसका रचना-काल १८६० ई० है।

"तृप्यन्ताम" में अनेक देवी-देवताओं को स्मरण किया गया है परन्तु तर्पण करते समय कवि को बार-बार देश-दशा की याद हो आती है। वह सोचता है, इन्हीं गुलाम हाथों से तर्पण करूँ ? यही गुलाम सिर उन्हें झुकाऊँ ? जिस जीभ से शासकों की खुशामद करनी पड़ती है, उसी से उन्हें "तृप्यन्ताप" कहूँ ? कठोर यातना और दुःसह अपमान की भावना से मर्माहत कवि ने लिखा है—

"इन हाथ सों देहिं कहा जल जे सेवहिं पर चरन मुदाम।
रहत विश्व पदत्रान-दलित नित तेहिं सिर सों किमि करै प्रणाम॥
जौन जीह निशिदिन सूलति है बकत खुशामद कपट कलाम।
ताहों कैसे कहैं हहा हम अहो पुलह मुनि तृप्यन्ताम॥"

जो देवता अपनी मूर्तियों का ध्वन्स देखकर भी खम नहीं हुए, उन्हें कवि ने निर्लज्ज कहा है। वेदों का किसी को ज्ञान नहीं है, तब ब्रह्मा का तर्पण कैसे हो। विष्णु भगवान लक्ष्मी के पति हैं, परन्तु देश में लक्ष्मी का नाम नहीं है। रुद्र शक्ति के देवता हैं परन्तु यहाँ तो "लुग्हि छुधन

डर लाग" वाली दशा है। प्रजापति का कार्य करने वाले लोग अब "निरबल निरबस निपट निकाम" हैं। इन्द देवता के नाम पर यहाँ के लोग हरिश्चन्द्र के गुणों को भी भूल चले हैं। आचार्यों की विद्या लन्दन में है और कला और संगीत का वास कथिकों में रह गया है। नाग देवता को दूध कौन पिलाये जब महँगी और टैक्स के मारे साग-पात मिलना भी कठिन हो रहा है—

"महँगी और टिकस के मारे हमहिं छुधा पीड़ित तन छाम।
साग पात लौं मिलै न जिय भरि लेबो वृथा दूध को नाम॥
तुमहिं कहा प्यावैं जब हमरो कटत रहत गोवंश तमाम।
केवल सुमुखि-अलक उपमा लहि नाग देवता तृप्यन्ताम॥"

महँगी और टैक्स के दिनों में भी सुन्दरी की नागिन जैसी जुल्फों का स्मरण करनेवाले कवियों पर भी व्यंग्य किया गया है। यक्षगण अलकापुरी से आये हैं; अगर वहीं से कुछ लाये हों तो खाने पीने का प्रबन्ध करें। खाली चार दाने जौं-चावल और पानी से काम चल जाय तो स्वागत !

"अलकापुरी त्यागि इत आए बड़ी दया कीन्हीं परनाम।
कछु धनपति ने दियो होय तो भोजन को कीजै इन्तिजाम॥
तुम्हें समर्पैं कहा, हमारी पूँजी में नहिं एक छदाम।
हाँ यह जल, यह जव, वे तन्दुल लेहु यक्षगण तृप्यन्ताम॥"

इसी प्रकार अन्य देवताओं का स्मरण करते हुए उन्होंने देश की दुर्दशा का चित्रण किया है। कचहरियों में जिस प्रकार न्याय बिकता है, उस पर बड़ी कटुता से लिखा है—

"जहँ निज दुखहु न रोय सकत है प्रजा खरीदे बिन इस्टाम।
तहँ तन हित हे धर्मराज जू कहाँ नमस्ते तृप्यन्ताम॥"

यह सोचकर कि मरे हुओं को तो खाने को मिलता है और जीते हुए भूखों मर रहे हैं, उन्होंने और भी तीखेपन से लिखा है—

'मरेहु खाउ तुम खीर खाँड़ हम जियहिं छुधा कृश निपट निकाम।'

पिशाच मसानो में नरमुण्डों से क्रीड़ा करते हैं परन्तु हाड़ चाम के ढाँचों में रक्त की बूँद का नाम नहीं है—

"मुख सों खेलहु खाहु सजहु तन जो कछु मिलै हाड़ श्रो चाम।
लहौ जु एकौ बूँद रकत तो बचि विशाच कुल तृप्यन्ताम॥"

शायद यह तीखेपन की हद है। अँग्रेजी में स्विफ्ट ने इस प्रकार का व्यंग्य लिखा था। अकाल और महँगी में किसी देवता का तर्पण सम्भव नहीं है। केवल एक मृत्यु देवता के तृप्त होने के सभी साधन मौजूद हैं। अकाल और महँगी के विरुद्ध यदि कोई विद्रोह करे तो उसके स्वागत के लिए भरी हुई बन्दूकें तैयार हैं। इसीलिये मृत्यु अतृप्त न रहेगी।

"लैसन इनकम चुङ्गी चन्दा पुलिस अदालत बरसा घाम।
सबके शाषन असन बसन जीवन संसयमय रहत मुदाम॥
जो इनहू ते प्रान बचै तो गोली बोलनि हाय धड़ाम।
मृत्यु देवता नमस्कार तुम सब प्रकार बस तृप्यन्ताम॥"

इस तर्पण में वही कटुता है जो प्रेमचन्द के "गोदान" में है।

जनता के लिए, जन-भाषा में जिन लोगों ने कविता लिखी है, उनमें प्रतापनारायण मिश्र का स्थान अन्यतम है। उनकी उक्तियों में वही सिधाई है जो उनके निबन्धों में है, वह सिधाई जो अति साधारण पाठकों का हृदय भी हिला देती है। उनमें वह बाँकपन भी है जो एक सफल हास्य और व्यंग्य लेखक को ही सुलभ हो सकता है। जो लोग आशिक माशूकों की अदाओं के बाँकपन में बाँके हो गये हैं, या जो कच-कुच-कटाक्ष की कविता में कट मरे हैं, उन्हें ये रचनाएँ शायद कविता कहलाने की अधिकारी भी न जान पड़ेंगी। परन्तु यदि सहृदयता का अर्थ पीड़ित जन-समुदाय के प्रति निर्दयता नहीं है, यदि रस की सृष्टि केवल मानवता के पतन के लिये नहीं वरन उसके विकास के लिये है, यदि रस कच-कुच-कटाक्षों के वर्णन से उत्पन्न होकर भी ब्रह्मानन्द सहोदर नहीं हो जाता वरन् उसकी परिणति त्याग और सेवा की प्रेरणा में भी हो सकती है, तो ये कृतियाँ भी कविता हैं और उस कोटि की कविता हैं जिसकी टक्कर की कम रचनाएँ उस युग के हिन्दी साहित्य में हैं। जन-साहित्य की रचना करते समय हमें बार-बार प्रतापनारायण मिश्र और उनके साथी अन्य कवियों की रचनाएँ अपने सामने रखनी पड़ेंगी।

प्रेमघन तथा अन्य कवि

राधाचरण गोस्वामी तथा अन्य पत्रकार जो वास्तव में गद्य-लेखक थे, कभी-कभी पद्य में भी कुछ लिख डालते थे। उनकी रचनाएँ अधिकतर किसी न किसी बात के प्रचार के लिए होती थीं। राजनीति या सामाजिक आचार-विचार के सम्बन्ध में जनता को सचेत करने के लिये वे होली, आल्हा या ऐसी ही और चीजें लिखा करते थे जिनके कुछ उदाहरण पहले दिये जा चुके हैं। बालकृष्ण भट्ट भी ऐसे ही कवियों में थे। हिन्दी के प्रचार पर कविताएँ लिखना स्वाभाविक था। प्रयाग की एक सभा में भारतेन्दु ने हिन्दी पर एक व्याख्यान ही पद्यबद्ध करके पढ़ा था। वह इस प्रकार की रचनाओं का अच्छा उदाहरण है। भारतेन्दु अँग्रेजी शिक्षा के विरोधी न थे परन्तु चाहते थे कि भाषा सीखते-सीखते सारी आयु न बीत जाय। वह चाहते थे कि अँग्रेजी तथा अन्य भाषाओं से हिन्दी में अनुवाद हो, जिससे लोगों को बिना उन सब भाषाओं को सीखे हुए भी उनके साहित्य का, विशेषकर विज्ञान-सम्बन्धी साहित्य का, ज्ञान हो जाय। उन्होंने इस बात को अच्छी तरह समझा

था कि ब्रिटिश साम्राज्य का विस्तार विज्ञान की उन्नति से हुआ है। विज्ञान की सहायता से अपने उद्योग-धन्धों का विकास किए बिना हिन्दुस्तान न स्वाधीन हो सकता है, न उन्नति कर सकता है। वह हिन्दी का प्रचार इसलिये न चाहते थे कि स्वर्ग में पितृगण अपनी सन्तान को हिन्दी पढ़ते लिखते देखकर प्रसन्न हो जायँगे वरन् इसलिये कि बिना प्रचार के देश में वैज्ञानिक खोज और उद्योग-धन्धों का विकास कभी न हो सकेगा। इस बात को शायद उस समय अन्य किसी विचारक ने इतनी स्पष्टता से न देखा था। भारतेन्दु की इच्छा थी कि वह स्वयं इङ्गलैंड, फ्रान्स और अमेरिका जायँ और उन देशों की प्रगति का निकट से अध्ययन करें। उनकी इच्छा थी कि धन एकत्र करके एक हिन्दी की युनिवर्सिटी खोलें और शिल्पकला के शिक्षण के लिये एक विद्यालय भी स्थापित करें।* दुर्भाग्य से उनकी आयु बहुत थोड़ी थी, इसलिये वे अपने जीवन में उन विचारों को कार्यरूप में परिणत न कर सके।

हिन्दी पर अपने पद्यबद्ध व्याख्यान में उन्होंने मशीन के प्रयोग द्वारा अँग्रेज़ों के उद्योग-धन्धों के विकास और फलतः उनके व्यापार के प्रसार पर कहा था—

> "कल के कलबल छलन सों, छले इते के लोग।
> नित नित धन सों घटत हैं, बाढ़त है दुखसोग।"

हिन्दुस्तान में विदेशी वस्तुओं के व्यवहार पर कहा था—

> "मारकीन मलमल बिना, चलत कछू नहिं काम।
> परदेसी जुलहान के, मानहुँ भए गुलाम॥
> वस्त्र काँच कागज कलम, चित्र खिलौने आदि।
> आवत सब परदेश सों, नितहिं जहाजन लादि॥
> इत की रूई सींग अरु, चरमहिं नित लै जाय।
> ताहि स्वच्छ करि वस्तु बहु, भेजत इतहिं बनाय॥
> तिनही को हम पाइ कै, साजत निज आमोद।
> तिन बिन छिन तृन सकल सुख, स्वाद विनोद प्रमोद॥"

* शिवनन्दन सहाय—पृ० १४६

हिन्दुस्तानियों को परदेसी जुलाहों का गुलाम कहकर भारतेन्दु ने नवीन साम्राज्यवाद की स्वार्थपरता को स्पष्ट कर दिया है। हम लोग ऐसे मूर्ख हैं कि कच्चा माल विदेश भेजकर बदले में उसी से बना हुआ विलायती माल सौ गुने अधिक दाम देकर खरीद लेते हैं। इन वस्तुओं के व्यवहार से हम अपनी सभ्यता मानते हैं। जुलाहों का आधिपत्य तभी दूर हो सकता है जब घर में ही माल तैयार हो और विदेशी साहूकारों का माल खरीदने के लिए एक भी मण्डी न रह जाय। यदि हिन्दी में नवीन और वैज्ञानिक आविष्कारों के साहित्य का अनुवाद हो तो देश में इस नयी आर्थिक उन्नति का श्रीगणेश हो जाय।

> "जानि सकैं सब कछु सबहि, विविध कला के भेद।
> बनै वस्तु कल की इतै, मिटै दीनता खेद॥"

देश में नवशिक्षा के प्रसार से उद्योग-धन्धों की उन्नति का स्वप्न देखते हुए उन्होंने लिखा था—

> लखहु उदित पूरब भयो, भारत भानु प्रकास।
> उठहु खिलावहु हिय कमल, करहु तिमिर दुखनास॥"

भारतेन्दु-युग में प्रबन्ध काव्यों का प्रायः अभाव है परन्तु "प्रेमघन" का "जीर्ण जनपद" बहुत कुछ इस कमी को पूरी कर देता है। गोल्डस्मिथ के "डिजर्टेड विलेज" के ढंग पर श्रीधर पाठक तथा अन्य कवियों की रचनाओं से भिन्न "जीर्ण जनपद" गोल्डस्मिथ से अधिक क्रैब के गाँवों के निकट है। इसमें किसी गाँव का आदर्श चित्र नहीं खींचा गया वरन् एक गाँव के परिवर्तन का आँखों देखा चित्र है। अनेक बातों में यह प्रबन्ध-काव्य अपने ढंग की रचनाओं में अनोखा है। प्रेमघन ने अपनी बाल्यावस्था में दत्तापुर नाम के गाँव का पुराना रूप देखा था। महारानी विक्टोरिया के युग में उन्होंने उसका नया रूप देखा। दोनों युगों के आचार-विचार, वेश-भूषा, रहन-सहन आदि के वर्णन के कारण इस काव्य का ऐतिहासिक महत्व है। बाल्यकाल के संसर्ग के कारण उस बीते युग से उनका मोह होना स्वाभाविक है। परन्तु इस मोह में

उन्होंने उस युग को सतयुग का रूप नहीं दिया। कचहरी में मुन्शियों के प्रधान का चित्र देखिये—

"तिन सबको प्रधान कायथ इक बैस्यो मोटो।
सेत केस कारो रँग कछु डीलहु को छोटो॥
रूखे मुख पर रामानुजी तिलक बिसाल सम।
दिये ललाट, लगाये चस्मा, धुरकत हरदम॥
पाग मिरजई पहिनि, टेक मसनद परजन पर।
करत कुटिल जब दीठ, लगत वे काँपन थर-थर॥
बाकी लेत चुकाय छनहिं मन में मालगुजारी।
कहलावत दीवान दया की बानि बिसारी॥"

उस समय के राजकर्मचारियों के अत्याचार का वर्णन तो इसमें है ही, रेखाचित्र की खूबी बिलकुल एक नयी बात है। नायक-नायिकाओं या काल्पनिक पात्रों के चित्रों को छोड़कर इस तरह के रेखाचित्र पहले के साहित्य में नहीं थे। चित्र में व्यंग्य की चमक भी है—

"पूजा करत देर लौं बनत वैष्णव भारी।
पढ़ि रामायन रोवत है पै अति व्यभिचारी।"

मकतब के मौलवी साहब के चित्र में प्रेमघन ने कमाल कर दिया है। हाथ में तसबीह है, आँखों में सुरमा। उनका क़ुरान पढ़ना देखकर—

"कोउ किताब की ओट हँसत, कोउ बन्द किये मुख।
अट्टहास करि कोउ भाजत, फेरे तिन सों रुख॥"

पण्डितजी और मौलवी साहब बैठकर बातचीत करते हैं तो लगता है—

"जनु लोमस ऋषि अरु बाबा आदम की जोरी।
सतयुग की बातन की मानहु, बोले भोरी॥"

परन्तु कभी कभी यह दृश्य बदल भी जाता है और एक दूसरा ही समा बँध जाता है—

"धर्म भेद पर कबहुँ विवाद बढ़ाय प्रबलतर।
झगरत सूद वाम सम दोऊ गरजि परस्पर॥"

पाठशाला का ध्वंस देखकर और अपने बाल्य जीवन की याद करके प्रेमघन ने बड़ी मर्मस्पर्शी पंक्तियाँ लिखी हैं—

"मच्यो रहत नित सोर सुभग बालकगन को जहँ।
आज सोर काकन को करकश सुनियत है तहँ॥"

सिपाहियों ने चन्दन घिसने और मिरजरन पीने आदि का वर्णन भी बड़ा मनोरंजक है। नये युग में जनता की गरीबी, बेकारी और शारीरिक तथा मानसिक पतन का करुण चित्र देखिये—

"सूखे वे मुखकमल, केश रूखे जिन केरे।
घेरा मलीन, छीन तन, छबि-हत बात न हेरे॥
दुर्बल, रोगी, नंगधड़ंगे जिनके शिशुगन।
दीन दरथ दिखराय हृदय पिघलावत पाहन॥"

पढ़े-लिखों की दुर्दशा का वर्णन इस प्रकार किया है—

"ढूँढ़त फिरत नौकरी जो नहिं कोउ विधि पावत।
खेती हू करि सकत न दुख सों जनम बितावत॥
चलै कुदारी तिहि कर किमि जो कलम चलायो।
उठै बसूला, घन तिन सों किमि जिन पढ़ि पायो॥"

प्रेमघन कंसवध पर एक महाकाव्य लिख रहे थे परन्तु उसे पूरा नहीं कर सके। इसके एक सर्ग में इन्होंने हरिगीतिका छन्द में कुछ बड़ी सुन्दर वर्णनात्मक कविता लिखी है। "कलिकाल तर्पण" में इन्होंने भारतवर्ष के इतिहास का सिंहावलोकन किया है। हरिश्चन्द्र की मृत्यु पर लिखे गये छन्दों में इनकी सहृदयता फूट पड़ी है—

"मित्र क्यों न रोवै तेरो राज्, क्यों न होवै लाज।
पूरो पशु होवै ना तो क्या मजाल रोवै ना।"

"होली की नकल" में इन्होंने टैक्स लगाने पर क्षोभ प्रकट किया है, विशेषकर इसलिये कि जिन पर टैक्स लगाना चाहिये, वे उससे बचे हुए हैं—

"यह बिलायत जो दरसाय, भारत सों धन रोज कमाय।
चैन करें जो मजे उड़ाय, तिस का टिकस भी छुट जाय।
यह अचरज देखो तो आप, सोचत बुद्धि विकल हो जाय।।"

इसी में इन्होंने बर्मा-युद्ध का भी उल्लेख किया है।

पुराने ढंग की शृङ्गार-रस पर इनकी कविता बहुत काफ़ी है।

"चितै चैत की चद्‌नी चाह भरी चरचा चलिबे की चलाइयो ना"

इन्हीं की पंक्ति है। सावन से इन्हें कुछ विशेष प्रेम था। वर्षा ऋतु पर इनके अनेक छन्द हैं और इन्होंने कजरी भी बहुत तरह की लिखी हैं। भारतेन्दु के मैनिफ़ेस्टो के अनुसार लोक-गीतों में इन्होंने अनमेल-विवाह, बाल-विवाह, देश-दशा आदि पर बहुत कुछ कहा है। अपने युग के अन्य कवियों की अपेक्षा यह कुछ पुरातन-प्रेमी अधिक थे। ब्रिटिश राज के गुण भी इन्होंने कम नहीं गाये। परन्तु जीवन के अन्तिम समय में यह नवयुग के निकट आ गये थे। तब चरखे का नाम लिया जाने लगा था। राष्ट्रीयता के आदर्श पर इन्होंने लिखा था—

"हिन्दू मुसलिम जैन पारसी ईसाई सब जात।
सुखी होय हिय भरे प्रेमघन सकल भारती भ्रात।।"

ब्रिटेन ने जिस रामराज्य की स्थापना की थी, उसका चित्र यह है—

"पी प्रमाद मदिरा अधिकारी लाज सरम सब घोली।
लगे दुसह अन्याय मचावन निरख प्रजा अति भोली।
देश असेष अन्न धन उद्यम सारी सम्पति ढोली।।"

इत्यादि।

प्रतापनारायण ने "रोवन नहिं देई" कहकर प्रेस ऐक्ट आदि प्रतिबन्धों की ओर जिस प्रकार संकेत किया था, उसी प्रकार इन्होंने लिखा था—

"निज दुख व्यथा कथा नहिं कहिबे पावत कोऊ मुँह खोली।"

यह भ्रम-निवारण उस युग की विशेषता है। महारानी विक्टोरिया के साम्राज्ञी बनने पर बहुतों को यह आशा हुई कि अब देश के दिन फिरें। शीघ्र ही उनकी आशाओं को ठेस लगी और उन्हें दुर्भिक्ष, टैक्स,

एक्ट आदि का सामना करना पड़ा। इसके प्रतिकार के लिए उन्होंने यह सोचा कि देश में शिक्षा का प्रसार होना चाहिये। उद्योग-धन्धों के विकास और स्वदेशी के व्यवहार से देश की गरीबी बहुत कुछ दूर हो सकेगी, यह सब उन लोगों ने सोचा था और अपनी कविता में लिखा था। उन्हीं का अनुकरण करके देवीप्रसाद पूर्ण आदि ने मशीन की प्रशंसा में कविताएँ लिखीं। गांधीजी की मध्यकालीन मनोवृत्ति से साहित्य में विज्ञान और मशीन से प्रेम कम हो गया है। राजनीतिक चेतना के साथ उन्होंने सामाजिक कुरीतियों पर भी लोक-गीत रचकर समाज-संस्कार में सहायता दी। व्यंग्य और हास्य जैसे उस युग के शेष साहित्य में मिलते हैं, वैसे ही कविता में। खड़ी बोली में उन्होंने प्रयोग आरम्भ कर दिये थे परन्तु ब्रजभाषा गुजरात से लेकर बंगाल तक उत्तर भारत की साहित्यिक भाषा रह चुकी थी। भक्ति और शृँगार का उसमें अनुपम साहित्य रचा जा चुका था। ब्रजभाषा से लगाव तोड़ना उस समय अपनी समग्र भारतीय संस्कृति से नाता तोड़ना जान पड़ता था। इसीलिये कविता में प्रधान रूप से ब्रजभाषा का ही प्रयोग होता रहा है।

कविता—खड़ी बोली और ब्रजभाषा

कविता में खड़ी बोली का प्रयोग हो कि ब्रजभाषा का, यह विवाद भारतेन्दु की मृत्यु के बाद बहुत ज़ोर पकड़ गया। गद्य और पद्य में दो भाषाओं या बोलियों के प्रयोग की अस्वाभाविकता भारतेन्दु को ही खटकने लगी थी। उन्होंने स्वयं खड़ी बोली में प्रयोग के रूप में कुछ कविता लिखी थी और उसे "भारत-मित्र" में प्रकाशित कराया था। पहली सितम्बर सन् १८८१ के "भारत-मित्र" में अपने छन्दों के साथ उन्होंने यह पत्र भी छपाया था—"प्रचलित साधुभाषा में कुछ कविता भेजी है। देखियेगा कि इसमें क्या कसर है और किस उपाय के अवलम्बन करने से इसमें काव्यसौन्दर्य बन सकता है। इस सम्बन्ध में सर्वसाधारण की सम्मति ज्ञात होने से आगे से वैसा परिश्रम किया जायगा।" भारतेन्दु ने अपने नये प्रयोग के बारे में बड़ी नम्रता से लिखा था। इसमें सन्देह नहीं कि वे ऐसे प्रयोगों के पक्ष में थे। वह चाहते थे कि अन्य साहित्यिक भी इस पर अपने विचार प्रकट करें, इसलिये लिखा था—"लोग विशेष इच्छा करेंगे तो मैं और भी लिखने

का यत्न करूँगा।" भारतेन्दु कविता बहुत जल्दी लिखते थे और ब्रजभाषा में इसका उन्हें खूब अभ्यास था; नये माध्यम में कठिनाई पड़ना स्वाभाविक था। फिर भी वह दूसरों की राय जानकर परिश्रम करने के लिए तैयार थे। पहले तीन दोहे लिखे थे—

"बरसा सिर पर आ गई, हरी हुई सब भूमि।
बागों में झूले पड़े, रहे भ्रमरगण भूमि॥
करके याद कुटुम्ब की, फिरे बिदेसी लोग।
बिछड़े प्रीतमवालियों के सिर छाया सोग॥
खोल खोल छाता चले, लोग सड़क के बीच।
कीचड़ में जूते फँसे, जैसे अघ में नीच॥"*

इसके बाद एक गीत था—

"गरमी के आगम दिखलाये रात लगी घटने।
कुहू कुहू कोयल पेड़ों पर बैठ लगी रटने॥
ठंडा पानी लगा सुहाने आलस फिर आई।
सरस सुगन्ध सिरिस फूलों की कोसों तक छाई॥
उपवन में कचनार, बनों में टेसू हैं फूले।
मदमाते भौंरे फूलों पर फिरते हैं भूले॥"*

इस गीत और ऊपर के दोहों में ब्रजभाषा के ढंग पर कविता लिखने की चेष्टा की गई है। भारतेन्दु का प्रयोग भाषा और छन्द को लेकर है; भावों की गहराई तक जाना उनका लक्ष्य न था। जगह-जगह पर उन्हें अटपटा सा लग रहा है, यह भी हम देख सकते हैं। दूसरी कविता "कहाँ हो हे हमारे राम प्यारे" काफ़ी लम्बी है और उसमें उन्हें अधिक सफलता मिली है।

भारतेन्दु ने कविता में खड़ी बोली के प्रयोग को केवल अपने शब्दों से खुलासा कर दिया था; प्रयोग वैसे बहुत कुछ अनजाने ही होने लगा था और कवि के सचेत न रहने पर बहुधा खड़ी बोली

* शिवनन्दन सहाय—पृ० १५७।

और व्रजभाषा दोनों मिल जाया करती थीं। रीतिकाल में जिस प्रकार की खड़ी बोली के उदाहरण जहाँ तहाँ मिलते हैं; बहुत कुछ उसी के ढंग पर भारतेन्दु के पिता 'गिरिधरदास' ने यह पद रचा था—

"चोरी दही मही की करना, घर घर घूमना हो लाल।
परनारिन सों नेह लगाना, सुन्दर गीत मनोहर गाना,
यमुना तट ग्वालन को लेके जूमना हो लाल।
मटुकी के कर टूक पटकना, अँचरा गहि गहि हाथ झटकना,
उमकि उमकि उर लाय लाय मुख चूमना हो लाल।
'गिरधरदास' कहै हम जाना, तुमने सुख इसमें ही माना,
निडर होय गोकुल में फुकि फुकि झूमना हो लाल।"*

'गिरिधरदास' के बाद भारतेन्दु का इस परम्परा को आगे बढ़ाना स्वाभाविक था।

जनवरी सन् १८७५ की "हरिश्चन्द्र-चन्द्रिका" में अमृतसर के कवि सन्तोषसिंह का एक कवित्त छपा है जिसमें व्रजभाषा और खड़ी बोली का मिश्रित रूप हम देख सकते हैं। श्रीधर पाठक के समय इस प्रकार की भाषा बहुत लिखी जाने लगी थी।

"हौं द्विज विलासी वासी अमृत सरोवर को,
कासी के निकट तट गङ्ग जन्म पाया है।
शास्त्र ही पढ़ाया कर प्रीति पिता पण्डित ने,
पाया कवि पंथ राम कीनी बड़ी दाया है॥
कहै तोष हरिनाम काव्य में है ठहराया,
जैसा कुछ आया सो प्रबन्ध में बनाया है।
प्रेम को चढ़ाया अब सीस को नवाया देखो,
मेरे मन भाया कृष्ण पाँय पै चढ़ाया है॥"

भारतेन्दु ने खड़ी बोली में अपनी कविताएँ सन् १८८१ में "भारत

* व्रजरत्न हरिश्चन्द्र, पृ० ५१।

मित्र" को भेजी थीं। उसके बाद वह प्रयोग करते रहे थे यद्यपि इसके लिये उन्हें कोई विशेष प्रोत्साहन मिला हो, ऐसा नहीं जान पड़ता। दिसम्बर सन् १८८४ की "नवोदिता श्रीहरिश्चन्द्र-चन्द्रिका" में उन्होंने खड़ी बोली में लिखे हुए अनेक छन्द प्रकाशित किये थे। ये छन्द उनकी मृत्यु से एक वर्ष पहले लिखे गये थे। सभी में वैराग्य की भावना है। पहला पद है—"साँझ सवेरे पंछी सब क्या कहते हैं कुछ तेरा है।" दूसरा पद "तुझ पर काल अचानक टूटेगा" अधिक ओजपूर्ण शैली में है। तीसरा पद है—"जग की लात करोरन खाया, मन में अब तो लाज न आया।" "डंका कूच का बज रहा मुसाफिर जागो रे भाई" उनका काफी प्रसिद्ध पद है। इसी तरह के दो-तीन छन्द और प्रकाशित हुए थे। इन्हें देखकर कोई यह नहीं कह सकता कि भारतेन्दु खड़ी बोली में कविता लिखने से हतारा हो गये थे। उनके प्रयोग बराबर जारी थे। यहाँ पर बँगला के पयार छन्द में रची हुई उनकी कविता "मन्द-मन्द आवे देखो प्रात समीरन" का उल्लेख कर देना उचित है। यह अक्तूबर सन् १८७४ को "हरिश्चन्द्र-चन्द्रिका" में छपी थी। उनकी मृत्यु के उपरान्त खड़ी बोली के विरोधियों ने बार बार कहा था कि खड़ी बोली में कविता लिखने से भारतेन्दु ने ही हार मान ली थी, तब हम लोग किस गिनती में हैं। यह अनुचित था।

सन् १८८७ और ८८ में कालाकाँकर के "हिन्दोस्तान" में इस विषय पर काफी वाद-विवाद चला। खड़ी बोली का पक्ष करने वाले नये लोग थे जिनमें श्रीधर पाठक और अयोध्याप्रसाद खत्री मुख्य थे। ब्रजभाषा का पक्ष समर्थन करने वालों में प्रतापनारायण मिश्र और राधाचरण गोस्वामी जैसे लोग थे। "हिन्दोस्तान" पत्र की सहानुभूति नये लोगों के साथ थी और सम्पादकीय स्तम्भ में वह उनका समर्थन करता था। तीसरी अप्रैल सन् १८८८ के सम्पादकीय से नये आन्दोलन-कारियों की मनोवृत्ति अच्छी तरह समझ में आ जाती है। "गद्य और पद्य की भिन्न-भिन्न भाषा होना हमारे लिये उतना अहंकार का विषय नहीं है जितना लज्जा और उपहास का।" यह एक ऐसी सत्य बात थी

जिसका उत्तर विरोधियों के पास नहीं था। इसीलिये वे नये लेखकों के सामने टिक न सके। नये आन्दोलनकारी खुल्लमखुल्ला चुनौती दे रहे थे, जिन छन्दों में जैसी कविता हम लिख सकते हैं या लिख चुके हैं, वैसी कविता तुम ब्रजभाषा में लिख दो तो हम ब्रजभाषा का लोहा मान लें। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र का नाम जिस प्रकार विरोधी अपने पक्ष-समर्थन के लिए ले रहे थे, उससे चिढ़कर अयोध्यानाथ ने बड़े जोश से लिखा था—"ब्रजभाषा कविता के पक्षपाती बाबू हरिश्चन्द्र की दुहाई देते हैं, इसलिये बाबू हरिश्चद्र के वचन का खण्डन होना आवश्यक है। बाबू हरिश्चन्द्र ईश्वर नहीं थे। उनको शब्दशास्त्र (Philology) का कुछ भी बोध नहीं था। यदि Philology का ज्ञान होता तो खड़ी बोली में पद्य-रचना नहीं हो सकती है, ऐसा नहीं कहते।*" वास्तव में हरिश्चन्द्र का यह मत नहीं था कि खड़ी बोली में कविता नहीं हो सकती। सबसे पहले उन्होंने ही इस बात का अनुभव किया था कि गद्य और पद्य की भाषाओं का भिन्न होना उतना अहंकार का विषय नहीं है जितना लज्जा और उपहास का। इसलिये उन्होंने "भारतमित्र" में अपनी कविताएँ छपवाकर उन पर विद्वानों की राय माँगी थी। कहा जाता है कि "डंका कूच का बज रहा मुसाफिर" उनका अन्तिम पद है। यह खड़ी बोली में ही लिखा गया है। परन्तु ब्रजभाषा के प्रेमी अपने पक्ष-समर्थन के लिये भारतेन्दु के नाम को ढाल बनाये हुये थे। उस पर आक्रमण होना आवश्यक था। यदि भारतेन्दु का यही मत होता, तब भी उसका खण्डन आवश्यक था। क्या साहित्य में क्या समाज में, हम तभी उन्नति कर सकते हैं जब हम बड़े से बड़े लेखक या नेता के बारे में आवश्यकता पड़ने पर यह कह सकें कि यह ईश्वर नहीं है, आगे बढ़ने का मार्ग बन्द नहीं हो गया। खड़ी बोली के लिये आन्दोलन करने वालों में यह साहस था, इसीलिये उनकी जीत हुई।

---

* खड़ी बोली आन्दोलन—अयोध्याप्रसाद खत्री द्वारा संकलित और भुवनेश्वर मिश्र द्वारा सम्पादित।

पुराने लेखकों को खड़ी बोली से विरोध नहीं था क्योंकि वे गद्य में उसका प्रयोग करते थे। जैसा कि प्रतापनारायण मिश्र ने लिखा था—"क्षमा करें! हम खड़ी हिन्दी के विरोधी होते तो हानि पर हानि सहकर 'ब्राह्मण' का सम्पादन क्यों करते।" मिश्रजी के पक्ष की यही कमज़ोरी थी। वह यहाँ तक मानने के लिये तैयार थे कि खड़ी बोली में जितनी प्रकार की कविता हो सकती हो, लिखी जाय। वास्तव में वह केवल कविता में ब्रजभाषा के प्रयोग करते रहने की अनुमति माँग रहे थे। राधाचरण गोस्वामी ने लिखा था कि विद्वानों की एक सभा बुला कर इस बात का निश्चय किया जाय कि कविता में कौन सी भाषा का प्रयोग हो। उनके पक्ष की पराजय की यह मानों अग्रसूचना थी। कुछ लोगों को यह भय था कि सरकार को हिन्दी फूटी आँखों नहीं सुहाती; यदि ब्रजभाषा से नाता टूटा तो शायद हिन्दी का नाम निशान ही मिट जाय। इस पर श्रीधर पाठक ने स्मरणीय शब्द लिखे थे—"हिन्दी के गद्य व पद्य की उन्नति हम लोगों पर निर्भर है, सरकार पर नहीं।" भला ऐसे दृढ़ विश्वास और साहस के आगे कौन टिक सकता था।

अपने शकुन्तला नाटक में प्रतापनारायण मिश्र ने स्वयं अनेक पद्यों में खड़ी बोली का प्रयोग किया था। एक लोक-गीत के ढंग पर अनुसूया गाती है—

"प्यारी ने पाया, पिया मन भाया, क्या ही विधाता ने जोग मिलाया।"

लावनी लिखने में खड़ी बोली के प्रयोग का पहले से ही चलन था। अब पुराने लेखक भी नवयुवकों का साथ देने लगे। अम्बिकादत्त व्यास ने खड़ी बोली में अनेक कवित्त लिखे थे। शायद आधुनिक हिन्दी के प्रयोग से भक्ति रस में भी एक विचित्र ओज आ गया—

"दाँत तोड़ तोड़ तेरी ठोढ़ी करेगा पीठ,
अमल कमल ऐसी आँखें मुरझावेगा।
कानों की भी ताकत कबूल लेगा औ' मार,
गाल पिचका के धर गर्दन हिलावेगा॥

आस्वादत. मालिक को भूला क्यों भटकता है,
कौन जाने कब तेरा काल मुँह बायेगा।
जोबन के मद में न भूलना कभी तू यार,
रहना सचेत एक रोज चोर आवेगा।।"

पुराने कवियों में खड़ी बोली को अपनाने वालों में प्रेमघन मुख्य थे। अम्बिकादत्त व्यास की तरह और बाद के युग में "सनेही" और "हितैषी" की तरह इन्होंने खड़ी बोली में कवित्त लिखे थे। नीचे का कवित्त भारतेन्दु के "नगद दमाद अभिमानी" वाली भावना का उदाहरण है।

"हमें जो हैं चाहते निबाहते हैं प्रेमघन
उन दिलदारों से ही मेल मिला लेते हैं।
दूर दुतकार देते अभिमानी पशुओं को
गुनी सज्जनों की सदा नेह-नाव खेते हैं।।
आस ऐसे तैसों की करें तो कहो कैसे
महाराज ब्रजराज के पद सेते हैं।
मनमानी करते न डरते तनिक नीच
निन्दकों के मुँह पर खँखार थूक देते हैं।।"

प्रेमघनजी की भावना कुछ आवश्यकता से अधिक उदात्त हो गई है। "आनन्द अरुणोदय," जिसमें भारतवासियों के नव जागरण का वर्णन है, खड़ी बोली में है। इनकी अन्तिम रचना, "मयंक महिमा" भी जो इन्होंने अपने नाती के मनोविनोद के लिये लिखी थी, उसी में है। इसे इन्होंने सं० १९७८ में लिखा था जब भारतेन्दु-युग को पीछे छूटे हुए काफी दिन बीत चुके थे।

तब के लेखकों ने खड़ी बोली में काफी और उच्चकोटि की रचना नहीं की। इसका कारण स्पष्ट है। उनकी भाव-व्यंजना का प्रधान माध्यम ब्रजभाषा थी। यद्यपि उन्होंने इस बात का अनुभव किया था कि गद्य और पद्य में दो भाषाओं या बोलियों का प्रयोग अनुचित है, फिर भी ब्रजभाषा के विशाल साहित्य, उसके ऐतिहासिक महत्व, और उसकी

सरसता के कारण वे उससे शीघ्र ही पीछा नहीं छुड़ा सके। भारतेन्दु ने खड़ी बोली में नये प्रयोग करके इस बात का प्रमाण दिया था कि वह कविता की भाषा में परिवर्तन चाहते हैं। खड़ी बोली में तब जो भी कविता लिखी गई, उसे पढ़ते हुए आज एक विचित्र आनन्द का अनुभव होता है। एक नये माध्यम में ये महान् लेखक अटपटा रहे हैं। परन्तु अतिशय सतर्कता के नीचे उन्होंने अपने आपको दबा नहीं दिया। जो स्वच्छन्दता उनके गद्य में है, उसकी छाप उनकी कविता पर भी है। उनका महत्व इस बात में है कि उन्होंने आँखों पर व्रजभाषा-प्रेम की पट्टी न बाँधकर गद्य की भाषा में भी प्रयोग किये। उन प्रयोगों से नयी पीढ़ी का मार्ग प्रशस्त हुआ। राय देवीप्रसाद पूर्ण आदि ने उन प्रयोगों को एक निश्चित रूप दिया। श्रीधर पाठक की रचनाएँ भी बहुत कुछ प्रयोगात्मक हैं और शायद भाषा-सम्बन्धी प्रयोग करने के लिये ही उन्होंने संस्कृत और अँग्रेजी से अनुवाद किये थे। फिर भी उनकी वाणी में नये युग का स्वर स्पष्ट सुनाई देने लगता है, वह स्वर जो दिन पर दिन पुष्ट होता चला गया—

> "वन्दनीय वह देश, जहाँ के देशी निज अभिमानी हों।
> बाधवता में बँधे, परस्पर परता के अज्ञानी हों॥
> निन्दनीय वह देश, जहाँ के देशी निज अज्ञानी हों।
> सब प्रकार परतन्त्र, पराई प्रभुता के अभिमानी हों॥"

इसी स्वाधीनता प्रेम को आगे बढ़ाते हुए नवीन कवि ने लिखा था—

> "जिसको न निज गौरव तथा निज देश का अभिमान है।
> वह नर नहीं है, पशु निरा है और मृतक समान है॥"

यहाँ पर हम भारतेन्दु-युग से विदा लेकर आधुनिक-युग की सीमा-रेखा के पास आ पहुँचते हैं।

भारतेन्दु-युग और उन्नीसवीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध

संसार के इतिहास में उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध का महत्त्वपूर्ण स्थान है। कार्ल मार्क्स, डारविन, भारतेन्दु, ईश्वरचन्द्र विद्यासागर, टालस्टाय आदि महापुरुषों ने काल के इसी भाग में अपना त्याग और तपस्या का जीवन बिताया था। इन वैज्ञानिकों, समाज-सुधारकों और साहित्यिकों ने मानव-विकास के मार्ग में अड़ी हुई बड़ी बड़ी शिलाओं को अपने सबल हाथों से ठेलकर एक ओर कर दिया। बाद के लोगों ने आकर उसी मार्ग को पीट-पाटकर बराबर किया और उसको जनसमूह के चलने योग्य बनाया। उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध से ही आधुनिक युग का आरम्भ होता है, उसकी नींवें इन्हीं महापुरुषों के हाथों डाली गई हैं। इतिहास इस बात का साक्षी है कि उन्हें इस काम में सहायता मिलना तो दूर रहा, उल्टा ईंटों और पत्थरों की बौछार ही सहनी पड़ीं। कार्ल मार्क्स इङ्गलैंड में ही पूँजी पर अपनी प्रसिद्ध पुस्तक लिख रहा था परन्तु सब के अँगरेज साहित्यिकों को जैसे इस बात का पता ही नहीं था कि उन्हीं के बीच आधुनिक युग का सबसे बड़ा क्रान्तिकारी काम कर

रहा है। विलियम मौरिस ने अवश्य समाजवादी सिद्धान्तों के प्रचार में और मजदूरों के सङ्गठन में भाग लिया परन्तु उसके और सब साथी सोते ही रहे। ऑस्कर वाइल्ड जैसे लोग जो समाजवादी हो गये, अगर न भी होते तो कुछ बुरा न था।

हिन्दुस्तान में सन् ५७ के पहले रीतिकालीन परम्परा का जोर था। यह वह संस्कृति थी जो समाज को निकम्मा बनाये थी और जिससे फायदा उठाकर अँग्रेज दिन प्रति दिन अपना राज्य-विस्तार करते चले जा रहे थे। इस परम्परा का मुसलमान राजदरबारों में ज्यादा जोर होना स्वाभाविक था। जब उस साम्राज्य की नीवें हिलने लगीं, यहाँ तक कि उसकी ईंट से ईंट बजने लगी तब भी उनके हाथ से वह चैन की वन्सी न छूटी। दिल्ली और लखनऊ के दरबारों में रन्डियों, भाँड़ों और शायरों का जमघट लगा रहता था। एक दिन वह महल ढहकर गिर पड़ा; लखनऊ और दिल्ली की बुलबुलें उड़ गई और अपने लिए दूर-दूर आशियाने खोजने लगीं। लाखों किसानों का रक्त बहा। महारानी विक्टोरिया का साम्राज्याभिषेक हुआ। नवाबों का अन्त हुआ। लोगों ने एक सुख की साँस ली। रामपुर और हैदराबाद में फिर बुलबुलें चहकने लगीं।

हिन्दी लेखकों में एक थे सितारेहिन्द, जब किसी को अपनी लेखनी पर शान चढ़ाना होता, वह उन पर दो चार वार कर बैठता। भारतेन्दु ब्रिटिश सरकार के कोपभाजन थे। उनकी पत्रिकाएँ खरीदना सरकार ने बन्द कर दिया था। वह एक बड़े अमीर घराने में पैदा हुए थे परन्तु उन्होंने बैलगाड़ी में बैठकर देश की वास्तविक दशा देखी थी। बाढ़-पीड़ितों के लिये उन्होंने हाथ में नारियल लेकर भीख माँगी थी। इसलिये वह युग-साहित्य को जन-साहित्य बनाने में सफल हुए।

जिन परिस्थितियों में भारतेन्दु और उनके साथियों को काम करना पड़ा, वे अनोखी थीं। सबसे पहले उन्हें अपनी भाषा के लिये ही लड़ना था। सरकारी अफसरों के सीखने की भाषा उर्दू निश्चित की गई थी। जब अफसर उर्दू सीखेंगे तो उनके मातहत ही हिन्दी सीख कर क्या

फरेंग। कर्नल हॉलरायड ने लाहौर में उर्दू मुशायरों के लिये स्थापित की थी जिसमें हाली भी कविता पढ़ने जाते थे। ऐसा हिन्दी में कोई नहीं हुई। भारतेन्दु ने "तदीय समाज" स्थापित की थी जिसमें सदस्यता की एक शर्त स्वदेशी वस्तुओं के व्यवहार की थी। हरिश्चन्द्र को भारतेन्दु की उपाधि हिन्दी-भाषी जनता ने दी और वह नाम ऐसा चला कि सरकारी मुलम्मा होने पर भी "सितारे-हिन्द" की चमक फीकी पड़ गई। भारतेन्दु अपने जीवन के अन्तिम दिनों में मोहताज हो गये थे। भारतेन्दु की मृत्यु ३५ वर्ष में हो गई फिर भी उन्होंने आधुनिक हिन्दी की बहुत मजबूत नींव डालकर उस पर जन-साहित्य का एक सुन्दर भवन निर्मित कर दिया।

भारतेन्दु संस्कृत के महान् पण्डित थे। स्वामी दयानन्द से उन्होंने लोहा लिया था और सहज उदारता से उनकी समाज-सेवा की प्रशंसा भी की थी। ईश्वरचन्द्र विद्यासागर ने जब शकुन्तला नाटक का सम्पादन किया था तब वह भारतेन्दु के यहाँ ठहरे थे और वहीं "अभिज्ञान-शाकुन्तल" की पुरानी प्रतियाँ देखी थीं। उन्होंने शकुन्तला नाटक का सम्पादन करके उसे भारतेन्दु को समर्पित भी किया था। परन्तु बाद को शायद प्रकाशकों को यह न रुचा; उन्होंने उस समर्पण को निकाल डाला। उनके विशाल पुस्तकालय के लिये भारत सरकार एक लाख रुपया दे रही थी परन्तु उन्होंने अपना पुस्तकालय बेचना उचित न समझा।* संस्कृत के पण्डित होने और नित्य प्रति पण्डितों की सङ्गति होने पर भी उन्होंने अपनी भाषा में पण्डिताऊपन नहीं आने दिया। वह जन-भाषा और जन-साहित्य की आवश्यकता समझते थे; इसलिये भाषा को उन्होंने वैसा ही रूप दिया। साहित्य सामाजिक विकास का एक साधन है, इस बात को उन्होंने खूब अच्छी तरह समझा था। इसलिये वह साधु हिन्दी में ही जन-साहित्य की रचना से सन्तुष्ट न हुए। उन्होंने हिन्दी लेखकों के सामने इस बात का प्रस्ताव रखा कि वे उत्तर भारत की उप-

---

*ब्रजरत्नदास—भारतेन्दु हरिश्चन्द्र पृष्ठ १४३

भाषाओं में भी राजनीतिक और सामाजिक चेतना फैलानेवाला साहित्य रचें। राजनीतिक और सामाजिक ध्येय को लेकर ग्रामीण बोलियों तथा साधु भाषा में साहित्य रचने की बात को सबसे पहले स्पष्ट शब्दों में भारतेन्दु ने ही लिखा था। भारतेन्दु-युग की यही सबसे बड़ी खूबी है; वह जनता का साहित्य है। उसकी भाषा न दरबारों की है, न सरकारी अफसरों और कचहरी के मुहर्रिरों की! वह जनता की भाषा है जिसमें अत्यधिक ग्राम-सम्पर्क के चिह्न भले हों, नागरिक बनाव सिंगार और टीमटाम का अभाव है। उस पर अवधी और ब्रजभाषा की गहरी छाप है और जितनी ही गहरी यह छाप होगी, भाषा उतनी ही सबल होगी। जो लोग कहते हैं कि हिन्दी का जन्म एक शुद्धि और बहिष्कार की इस भावना से हुआ है कि उसमें से सब विदेशी शब्द निकाल दिये जायँ और संस्कृत के शब्द ठूँस दिये जायँ, उनसे निवेदन है कि भारतेन्दु, प्रतापनारायण मिश्र, राधाचरण गोस्वामी आदि लेखकों ने ही हिन्दी को उसका आधुनिक रूप दिया है। एक बार उनकी रचनाओं को पढ़कर देखिये कि उनको भाषा में विदेशी शब्द अपनाये गये हैं या उनका बहिष्कार किया गया है।

वह कौन-सी वस्तु है जो भाषा को बल देती है और साहित्य को महान् बनाती है? जन-सम्पर्क से भाषा सबल होती है और साहित्यिकों के त्याग और साधना से साहित्य महान् होता है। भाषा की यह सबलता और साहित्य का यह महत्ता उन लोगों को नहीं भाती जो समाज में विशेषाधिकारों की गद्दी पर बैठे हैं, जिन्होंने दूसरों की कमाई पर अपनी बनावटी संस्कृति का महल बनाया है, जो साधारण जनता से दूर उसी में अपने आपको बन्द किये हुए हैं। लका कबूतर से ये लोग उनकी मिट्टी से सनी हुई देह पर उँगली उठाते हैं जिनकी बदौलत उनके कपड़े सफ़ेद हैं। ये लोग भी समझते हैं, हम सभ्य हैं! इनके विशेषाधिकारों को ज़रा भी धक्का लगा कि ये संस्कृति और सभ्यता का नारा बुलन्द करने लगते हैं।

बालकृष्ण भट्ट, कार्तिकप्रसाद खत्री, प्रतापनारायण मिश्र आदि ने

जिन परिस्थितियों में रहकर साहित्य और समाज की सेवा की
ऐसी कहानी है जो निराश और निरुत्साह साहित्यिकों को बल ...
भारतेन्दु और उनके साथियों ने कलकत्ता, बम्बई और लाहौर के बीच में पत्र-पत्रिकाओं का एक जाल सा बिछा दिया। इन पत्रों ने जनता तक नयी राष्ट्रीय चेतना पहुँचाई। बंग-भंग और काँग्रेस के आन्दोलनों के पहले इन्होंने अपने साहित्य द्वारा स्वदेशी का प्रचार आरम्भ किया। इन लोगों को न तो सरकार से सहायता मिलती थी और न बड़े बड़े राजा महाराजा उन्हें मुट्ठी भर भरकर स्वर्ण-मुद्राएँ दे देते थे परन्तु इसका परिणाम यह हुआ कि यह युग भारतीय साहित्य का सबसे सचेत युग है।

इन लोगों को ब्रिटिश शासकों के विरोध का सामना करना था। अपने ही समाज के वे लोग जो सरकार के पिट्ठू थे, उनके लिए शत्रु से अधिक भयंकर थे। मुग़ल साम्राज्य के अन्त होने पर अपनी एक अलग संस्कृति की रक्षा में लगे हुए कुछ और लोग थे जो हिन्दी से रुष्ट थे। इन विरोधों से अधिक समाज के अन्ध-विश्वासों और साहित्य के दरबारी संस्कारों से मोर्चा लेने में कठिनाई थी। लेखक स्वयं इन संस्कारों से परे न थे परन्तु वे विचारों में स्वाधीन थे; समाज-हित उनका लक्ष्य था, इसलिये जिस बात को समाज-विरोधी समझते थे, उनकी निन्दा करने में हिचकते न थे। दरबारी संस्कारों की यह छाप उस समय के अन्य साहित्यों पर और गहरी मिल सकती है, परन्तु जो उदार सामाजिक भावना, जो उग्र राजनीतिक चेतना इस साहित्य में मिलती है, वह उस समय के अन्य साहित्यों में दुर्लभ है। यह साहित्य भारतीय जनता के अधिकारों की लड़ाई से जुड़ा हुआ है, इसमें हमारे रोष, हमारे स्नेह, हमारे त्याग की भावनाएँ स्पन्दित हैं। यह उन लोगों का साहित्य है जो पैंतीस छत्तीस साल की आयु में अपने प्राणों की होली खेलकर चल दिए, जिन्होंने अपने दीर्घ जीवन को कुछ घने वर्षों में केन्द्रित कर दिया। उनकी यह आहुति अग्निशिखा-सी आज भी प्रज्वलित है; हिन्दी भाषा और साहित्य को उसमें आज भी जीवन और

प्रकाश मिल रहा है।

हिन्दी में भारतेन्दु-युग को फिर लाने की ज़रूरत नहीं है। हम एक ऐसे युग में रह रहे हैं जिसकी समस्याएँ उसी ढंग की होने पर भी अधिक पेचीदा हैं। परन्तु आज की समस्याएँ उसी ढङ्ग की हैं, इसलिए ऐतिहासिक दृष्टि से हमें इस बात को जानना चाहिये कि तब के लोगों ने उन्हें किस तरह सुलझाया था। जनता की भाषा में जनता के लिए साहित्य लिखने की समस्या हमारे सामने आज भी है। उसी समस्या को भारतेन्दु-युग के लेखकों ने बड़ी अच्छी तरह हल किया था। हम उनसे बहुत कुछ सीख सकते हैं। प्रगति तभी सम्भव है जब हम अतीत की गति समझ लें। जहाँ तक वह बढ़ चुका है, उससे आगे बढ़ने में प्रगति है। भारतेन्दु-युग को फिर लौटाने की आवश्यकता इसलिए नहीं है; हमें उससे आगे बढ़ना है। कोल्हू का बैल एक ही जगह घूमा करता है और इस तरह कई मील चल लेता है। उसमें गति है परन्तु प्रगति नहीं है। प्रगति के लिए अतीत और अनागत का क्रम बँधा रहना चाहिए। भारतेन्दु-युग का साहित्य पढ़ने और उससे उचित शिक्षा लेने में प्रगति का यह क्रम बना रहेगा।

प्यारे हरीचन्द की कहानी रह जायगी

आधुनिक हिन्दी साहित्य के पितामह भारतेन्दु हरिश्चन्द्र को विश्वास था कि उनका शरीर न रहने पर लोगों की ज़बान पर उनकी कहानी रह जायगी। इसमें सन्देह नहीं कि उनका जीवन एक कहानी था, कहानी की तरह स्वयं अपने में साहित्य था; मस्ती, अनूठापन, कुछ सच, कुछ कल्पना—कहानी की ये सब विशेषताएँ उसमें थीं। जिनके पिता के ब्याह में कुओं में शकर घोल कर शर्बत बना हो, जो बाप-दादों की सम्पत्ति को "बर्बाद करने" की चुनौती दे चुका हो, जिसका घर साहित्यकारों के सम्मेलन का सभाभवन हो, जिसने अपने चारों तरफ बालकृष्णभट्ट, प्रतापनारायण मिश्र, राधाचरण गोस्वामी, श्रीनिवासदास, काशिनाथ आदि लेखकों का व्यूह रचाया हो, जिसने कविवचन-सुधा से लेकर सारसुधानिधि तक पचीसों अखबारों और पत्रों से हिन्दी में नयी हलचल मचादी हो और स्वयं नाटक, निबन्ध, कविताएँ, व्याख्यान, मुकरियाँ आदि से अपने युग को चमत्कृत करके ३६ साल की अवस्था में ही अपनी जीवन-लीला समाप्त करदी हो—दर असल उसका जीवन कहानी न होगा तो किसका होगा ?

भारतेन्दु की भविष्यवाणी सही थी—"प्यारे हरीचन्द की कहानी रह जायगी।"

उनके नाम के साथ "प्यारे" शब्द देखकर उनकी पुस्तकों के समर्पण याद आ जाते हैं, जैसे "होली" में—"प्यारे,

कहाँ चले? इधर आओ! त्योहार घर का करो। देखो, हमने होली के कुछ खेल इन पत्रों में लिखे हैं, इनसे जी बहलाओ।"

उनका व्यक्तित्व बहुत ही प्यारा था, इसकी तसदीक उस जमाने के सभी लेखकों ने की थी। इसलिये नहीं कि हरिश्चन्द्र दूध के धोये थे या सब के सामने गऊ बने रहते थे, बल्कि इसलिये कि उनकी सिधाई में भी एक बाँकपन था और उनके बाँकपन में भी एक सिधाई थी। कितना अच्छा कहा था, उन्होंने अपने बारे में—

"सीधेन सों सीधे, महाबाँके हम बाँकन सों, हरीचन्द नगद दमाद अभिमानी के।"

अगर हम कहें कि भारतेन्दु का व्यक्तित्व "महान्" था तो यह "महान्" शब्द "प्यारे हरीचन्द" के व्यक्तित्व के आगे घटिया मालूम होगा! वह "महान्" दिखना चाहते तो उनके पास साधनों की कमी नहीं थी, अच्छा खासा गुरुडम कायम करके वह जमाने पर रौब डाल सकते थे। लेकिन जैसे अपने नाम "हरिश्चन्द्र" को घिस कर उन्होंने "हरीचन्द" बना डाला था, वैसे ही रोब और गुरुडम के जितने साधन थे, उन्हें भी घिसकर उन्होंने अपने को जनसाधारण में मिला दिया था। यही कारण है कि अपने जमाने के तमाम लेखकों और साहित्यकारों के लिये वह एक प्रेरणा बन गये। तब से अब तक जितने महान् साहित्यकार हिन्दी में हुए हैं, उनमें से कोई भी दूसरे लेखकों के हृदय में और पाठकों के भी—वह स्थान नहीं बना सका जो प्यारे हरीचन्द ने ३६ साल की मामूली अवस्था में बना लिया था।

भारतेन्दु के जीवन में असंगतियाँ थीं, उसमें अन्तर्विरोध थे। अमीचन्द के घराने की परम्परा से एक नयी परम्परा टक्कर ले रही थी। दरबारी संस्कृति और राजभक्ति से देशभक्ति और जनसंस्कृति की नयी

परम्परा टक्कर ले रही थी। इनका परस्पर विरोध जैसे भारतेन्दु के जीवन में झलकता है, वैसे ही उनके साहित्य में भी। कहना चाहिये उस युग की समूची साहित्यिक प्रक्रिया में यह टक्कर मौजूद है।

भारतेन्दु-युग को साहित्यिक प्रक्रिया में कुछ तत्व ऐसे थे जो मरणशील थे और वे नष्ट हो रहे थे; दूसरे तत्व ऐसे थे जो विकासोन्मुख थे और विकसित और पल्लवित हो रहे थे। दरबारी परम्परा और राजभक्ति ऐसे ही मरणशील तत्व थे।

भारतेन्दु के साहित्य में नायिका-भेद वाली शृङ्गारी परम्परा काफ़ी जगह घेरे हुए है लेकिन वह पस्त और बेदम है और साहित्य की धारा को प्रशस्त करके आगे बढ़ाने में असमर्थ है। इसका सामाजिक आधार वह सामन्तवर्ग था जो अब अंग्रेज़ी साम्राज्यवाद का मुख्य स्तम्भ बन चुका था।

इस निपट प्रतिक्रियावादी आधार पर साहित्य की सजीव लता का विकसित और पल्लवित होना असम्भव था। बीसवीं सदी में "परम्परा" के नाम पर इसके भी समर्थक रहे हैं जो किसी राजा या राजप्रमुख के मनोरंजन के लिये कलम का कमाल दिखाते आये हैं। उनके आश्रयदाताओं की तरह उनकी यह साहित्यिक 'परम्परा' भी मौत की घड़ियाँ गिन रही है। यह धारा सामाजिक और सांस्कृतिक जीवन के इतने विरुद्ध है कि पिछले पचास वर्षों में हर समर्थ लेखक उसका विरोध करता हुआ ही आगे बढ़ा है।

इसी से मिलती जुलती राजभक्ति वाली परम्परा है जिसका आधार वे वर्ग थे जो साम्राज्यवादी शोषण में हिस्सा लेकर उससे पाले पोसे जाते थे। पुराने सामन्तों, नये ज़मींदारों के अलावा उच्च पूँजीवादी वर्ग से ख़िताब वग़ैरह पाने वाले लोग भी इसमें शामिल थे। यह भी एक मरणशील परम्परा थी क्योंकि इसका सामाजिक आधार साम्राज्यवादी शोषण का कायम रहना था जिससे देश की बहुसंख्यक जनता दिन पर दिन तबाह होती जाती थी। यह परम्परा उस ज़माने में महारानी विक्टोरिया, प्रिन्स ऑफ वेल्स आदि की तारीफ़ में प्रकट होती थी।

यह याद रखना चाहिये कि गदर के बाद अँग्रेज़ों के वादों से शुद्ध सच्चे देशभक्त भी उनके चक्कमों में आ गये थे और समझने लगे थे कि पुराना अध्याय खत्म हुआ और अब वे पश्चिम के ज्ञान-विज्ञान से लाभ उठा कर उन्नति कर सकेंगे। लेकिन जब उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्ध में एक के बाद एक अकाल में लाखों किसान मरने लगे और बर्मा से लेकर अफ्रीका तक अँग्रेज़ अपने साम्राज्य-विस्तार के लिये युद्ध चलाते रहे तब इन लोगों के भ्रम टूटने लगे और ये अँग्रेज़ी राज और उसके समर्थकों के कट्टर दुश्मन हो गये।

राजभक्ति की "परम्परा" को बीसवीं सदी में अपनाने वाले लोग वे हैं जो बर्बर अमरीकी साम्राज्यवादियों को स्वतन्त्रता का रक्षक करार देते हैं, जो हिन्दुस्तान का बँटवारा करके कत्ले आम रचाने वाले अँग्रेज़ों को, मलाया में बम बरसाने वाले अँग्रेज़ों को, आज़ाद चीन और सोवियत यूनियन के खिलाफ़ फौजी साज़िशें करने वाले अँग्रेज़ों को, कोरिया की जनता का खून बहाने में अमरीकियों के मददगार अँग्रेज़ों को हिन्दुस्तान का सच्चा दोस्त और जनतन्त्र का सच्चा हिमायती कहकर घोषित करते हैं। ये लोग अँग्रेज़ों के पुराने नमकख्वार देशी नरेशों को "देशभक्त" कह कर उनके गुन गाते हैं और आज़ादी के तीन वर्षों में १,७८२ बार फायरिंग कराने वाले, ३,७८३ आदमियों की जान लेने वाले और ६,३४२ को घायल करने वाले पूँजीपतियों के प्रतिनिधियों को हिन्दुस्तान के अहिंसावादी उद्धारक कह कर पेश करते हैं।

यह परम्परा मरणशील है और मर रही है, इसलिये कि अँग्रेज़ी पूँजी, उससे गठबन्धन करके उसके सहारे पनपने वाली बड़े पूँजीपतियों की पूँजी और राजा-प्रमुख सम्प्रदाय यह सगूचा सामाजिक आधार मरणशील है और मर रहा है। जिस सामाजिक व्यवस्था से करोड़ों आदमी अकाल और भुखमरी का सामना करें, जिस व्यवस्था ने भारत के करोड़ों नर-नारियों को निरक्षरता के अन्धकार में डाल कर उनके सांस्कृतिक विकास का रास्ता बन्द कर रखा हो, वह व्यवस्था कितने दिन टिक सकती है? और इस व्यवस्था को अचल बनाने के

लिये साहित्य में कॉमनवेल्थी और कॉंग्रेसी नेताओं की स्तुति का क्रम कब तक चल सकता है ?

साम्राज्यवाद की हिमायत करने वाली परम्परा आज पूरी तरह जनता से अलग हो कर अपना जन विरोधी राष्ट्र विरोधी रूप सब पर जाहिर कर रही है।

भारतेन्दु-युग में दरबारी संस्कृति और राजभक्ति की परम्परा एक मरणशील परम्परा थी। सामाजिक विकास के नियमों ने उसे आज दम तोड़ने पर मजबूर कर दिया है।

अगर भारतेन्दु के जीवन में या उनके युग के साहित्य में यही मरणशील परम्परा होती या उसने अपनी विरोधी जनवादी परम्परा को कुचल दिया होता तो हम भारतेन्दु और उनके युग को दूर से ही नमस्कार करते और उस युग से नाता तोड़ कर अपना नया रास्ते बनाने में लग जाते।

लेकिन हकीकत यह है कि आज के लेखक जनवादी साहित्य का नया रास्ता बना नहीं सकते अगर वे भारतेन्दु-युग की साम्राज्य विरोधी साहित्यिक परम्परा से अपरिचित रहें। प्रगतिशील साहित्य का निर्माण हवा में नहीं हो सकता, न यूँ किसी देश में उसका निर्माण हुआ है हममें प्रगतिशील साहित्य रचने की कितनी जगह है, इसकी एक बहुत बड़ी कसौटी यह भी है कि अपने पिछले साहित्य की जनवादी परम्परा को हमने किस हद तक परखा और अपनाया है और उसे आगे बढ़ाया है।

जो लोग पिछले साहित्य की जनवादी परम्परा से बेखबर रह कर नया साहित्य रचने में मशगूल हैं, वे उतना ही सराहनीय काम कर रहे हैं जितना वे लोग जो बिना नींव डाले दीवाल खड़ी करने की कोशिश करते हैं।

जो लोग कहते हैं कि भारतेन्दु युग के साहित्य की कोई जनवादी परम्परा नहीं है, या वह परम्परा घटिया और "अशाश्वत" है या भारतेन्दु को ठोंकपीट कर प्रगतिशील बनाना कुछ आलोचकों का काम

है, वे दर असल साहित्य में जनतन्त्र विरोधी परम्परा के समर्थक हैं और उस युग की नवीन साम्राज्य विरोधी चेतना को इसीलिये अस्वीकार करते हैं कि वह उनके दकियानूसीपन से मेल नहीं खाती।

भारतेन्दु-युग की जनवादी परम्परा उस जमाने की दिन-पर-दिन उग्र होती हुई जनता की साम्राज्य विरोधी चेतना का दर्पन है। अकाल, भुखमरी और टैक्सों ने जनता को खुद उसके अनुभव से यह सबक सिखाना शुरू कर दिया था कि अँग्रेज़ी राज का मतलब है, सामाजिक और सांस्कृतिक जीवन की तबाही। बिना इस राज से छुटकारा पाये किसी भी तरह की उन्नति असम्भव है। यह चेतना उग्र वर्गों की नहीं थी जो साम्राज्य के आसरे उन्नति का सपना देखते थे; यह चेतना समाज के साधारण लोगों, खास कर किसानों में उभर रही थी जिन पर साम्राज्यवादी जुओं सबसे ज़्यादा भार डाले था। इसका सबूत भारतेन्दु-युग की साहित्यिक रचनाओं की विषय वस्तु ही नहीं है, बल्कि साहित्य के रूप भी हैं जो आम जनता में लोकप्रिय थे और ग्राम-संस्कृति के आधार पर रचे गये थे। जो लेखक सामयिकता से दूर रहकर "शाश्वत" साहित्य रचने में लगे हुए हैं, वे इन जन-संस्कृति के रूपों से घृणा करते हैं। इन रूपों की लोकप्रियता उन्हें छिछलेपन का सबूत मालूम पड़ती है!

अगर हम भारतेन्दु-युग के समूचे साहित्य पर नजर डालें तो देखेंगे कि उसका टिकाऊ हिस्सा वह नहीं है जो सामयिकता से दूर है, जो मध्यकालीन विषय वस्तु और रूपों को ही साहित्य की पराकाष्ठा मानता है, बल्कि उसका सबसे टिकाऊ और सजीव हिस्सा वह है जो पुराने रूपों में सामयिकता की नयी विषय वस्तु भर रहा था और नयी साम्राज्य विरोधी चेतना के अनुसार साहित्य के नये रूप भी गढ़ रहा था।

मिसाल के तौर पर पुराने रूपों में फाग और आल्हा वगैरह थे जिनमें कवि अब नयी वस्तु ढाल रहे थे जैसे यह होली—

"इक बाज्यो मरत भिखारी को।
केसर रंग गुलाल भूलि गयो,
कोउ पूछत नहिं पिचकारी को।
बिन धन अन्न लोग सब व्याकुल,
भई कठिन बिपत नर-नारी को।
चहुँ दिसि काल परयो भारत में
भय उपज्यो महामारी को।"

या भारतेन्दु की मनोहर, मनोरञ्जक मुकरियाँ,—

रूप दिखावत सरबस लूटै।
फँदे में जो पड़ै न छूटै॥
कपट कटारी जिय में हूलिस।
क्यों सखि सजन नहिं सखि पुलिस॥
नई नई नित तान सुनावै।
अपने जाल में जगत फँसावै॥
नित नित हमें करै बल-सून।
क्यों सखि सज्जन नहिं कानून॥
भीतर भीतर सब रस चूसै।
हँसि हँसि कै तन मन धन मूसै॥
जाहिर बातन में अति तेज।
क्यों सखि सज्जन नहिं अँगरेज॥

कुछ विश्वविद्यालयों के प्रोफेसरान और उनके मातहत काम करने वाले रिसर्च स्कॉलरान का यह मत है कि भारतेन्दु-युग के नये साहित्यिक जागरण का सबब अँग्रेजी अमलदारी में अमन की जिन्दगी और अँग्रेजी शिक्षा के असर से पैदा होने वाली देशभक्ति थी। यानी हिन्दुस्तान के लोगों को देशभक्ति सिखाने का ठेका भी अँग्रेजों ने ले रखा था और अँग्रेज न आते तो यहाँ के लोग यह भी न जानते कि देशभक्ति किस चिड़िया का नाम है। कहना चाहिये कि ऐसे प्रोफेसरों और रिसर्च स्कॉलरों ने खुद देशभक्ति अँग्रेजी किताबों से सीखी है, इसीलिये वे भारतेन्दु

युग के व्यापक सामाजिक आधार का और इस आधार पर पनपने वाली साम्राज्य विरोधी साहित्यिक चेतना को देखने में असमर्थ हैं। इन पर भारतेन्दु की यह मुकरी पूरी तरह फिट बैठती है।

सब गुरुजन को बुरो बतावै।
अपनी खिचड़ी अलग पकावै॥
भीतर तत्व न झूठी तेजी।
क्यों सखि सज्जन नहिं अँगरेजी॥

"भीतर तत्व न, झूठी तेजी"—यह हाल उस समालोचना का है जो मोटे-मोटे सँस्कृत के शब्दों में पाठक को आतङ्कित करने के लिए लिखी जाती है लेकिन जिसका तत्त्व यही होता है कि भारतेन्दु ने देशभक्ति अँग्रेजों से शिक्षा से सीखी थी!

विद्यार्थियों के दिमाग में यह कूड़ा-कर्कट भरने वाले गुरु लोग, मौका पड़े, तो एक बार अँग्रेजों को भी साम्राज्यवाद का पाठ पढ़ा सकते हैं। मैकॉले ने एक बार कहा होगा तो इन्होंने उसे सौ बार दोहराया—"मेरा मुझको कुछ नहीं, जो कछु है सो तोर।" ऐसे प्रोफेसरों के लिए भारतेन्दु ने अपने अद्भुत निबन्ध "एक अद्भुत अपूर्व स्वप्न" में पं० शीलदावानल "नीति दर्पण" की प्रशन्सा करते हुए लिखा था "इनसे नीति तो बहुत से महात्माओं ने पढ़ी थी, परन्तु वेगु, बाणासुर, रावण, दुर्योधन, शिशुपाल, कँस आदि इनके मुख्य शिष्य थे। और अब भी कोई कठिन काम आकर पड़ता है, तो अँग्रेजी न्यायकर्ता भी इनकी अनुमति लेकर आगे बढ़ता है।"

भारतेन्दु को अँग्रेजी साहित्य से बैर न था लेकिन वे जानते थे कि अपना राज चलाने के लिये साम्राज्यवाद कुछ ऐसे पट्टशिष्य तैयार करता है जो अँग्रेजियत में अँग्रेजों से भी आगे हैं। उन्हीं के लिये लिखा है अँगरेजी न्यायकर्ता भी इनकी अनुमति लेने आया करते थे।

युग निर्माता भारतेन्दु अपनी जिम्मेदारी महसूस करते हुए साहित्य के नये-पुराने रूपों को टटोलने में लगे हुए थे कि इनमें से किन्हें अपनाने से साहित्य उन्नति करेगा। एक तरफ उन्होंने संस्कृत के रूप लेकर "सत्य

हरिश्चन्द्र" नाटक रचा था, दूसरी तरफ "वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति", "अन्धेर नगरी", "प्रेमजोगिनी" आदि प्रहसनों में नये प्रयोग किये थे। उनके नाटक साहित्य की इन दोनों धाराओं पर नजर डालते ही पता लग जायगा कि वे देश के साहित्यिक जागरण का आधार किसे बना रहे थे—यहाँ की संस्कृति को या अँगरेजियत को।

भारतेन्दु के प्रहसनों में उनके व्यंग्यबाण दो लक्ष्यों पर खास तौर से छोड़े जाते हैं—एक तो राजाओं, पंडे पुजारियों और धार्मिक अन्धविश्वासों पर और दूसरे अँग्रेजी राज के कायदे क़ानूनों पर, उसके झूठे दावों पर, साहित्य और संस्कृति की रक्षा के नाम पर उनके दमन पर।

इन नाटकों में हिन्दी साहित्य की साम्राज्यविरोधी, सामन्त विरोधी चेतना व्यंग्य का फन उठा कर बार-बार अँग्रेजी राज और उसके आधार सामन्तशाही पर प्रहार करती है।

"भारत दुर्दशा" में जो लोग देश-दशा पर विचार करने के लिये इकट्ठे होते हैं, उन्हें पुलिस की वर्दी पहने हुए "डिसलायल्टी" पकड़ ले जाती है और यह पूछने पर कि यह गिरफ्तारी किस कानून के मातहत है, जवाब देते हैं—"इङ्गलिश पालिसी नामक ऐक्ट के हाकिमेच्छा नामक दफा से।"

अँग्रेजी हुकूमत संस्कृति की उन्नति किस तरह कर रही थी, उसका एक प्रमाण यह है कि "कवि-वचन-सुधा"—जो कविता प्रधान पत्रिका थी और जिससे भारतेन्दु का साहित्यिक जीवन प्रकाश में आना शुरू हुआ था उस पर भी हुकूमत ने पाबन्दी लगाई थी!

भारतेन्दु युग के आरम्भ से ही साहित्य की जनवादी परम्परा पर अँग्रेजों की कृपा दृष्टि पड़ने लगी थी।

"भारत दुर्दशा" में इस घटना का हवाला देते हुए "डिसलायल्टी" कहती है—"हम क्या करें, गवर्नमेंट की पालिसी यही है। कवि-वचन-सुधा नामक पत्र में गवर्नमेंट के विरुद्ध कौन बात थी? फिर क्यों उसके पकड़ने को हम भेजे गए?"

जनता के साथ लेखक भी अपने अनुभव से सीख रहे थे कि अँग्रेजी

राज का मतलब है—जनवादी साहित्य और संस्कृति का दमन।

पुलिस, क़ानून, अँग्रेज़ी राज—भारतेन्दु को जहाँ मौका मिलता, इन पर फब्तियाँ कसने से न चूकते थे।

"अन्धेर नगरी में बड़े कौशल से अति साधारण लोगों के चने और चूरन के लटके जैसे रूपों को इस्तेमाल करते हुए भारतेन्दु ने लिखा "चना हाकिम सब जो खाते। सब पर दूना टिकस लगाते।"

और—

"चूरन साहेब लोग जो खाता। सारा हिन्द हज़म कर जाता।
चूरन पुलिस वाले खाते। सब कानून हज़म कर जाते"

"प्रेमजोगिनी" में भारतेन्दु ने काशी के पंडे-पुजारियों, गोसाइयों वग़ैरह की अच्छी ख़बर ली है। सामन्ती संस्कृति के सड़े गले रूपों के ये प्रतिनिधि कौन सी समाज सेवा कर रहे थे, इस पर धनदास और बनिता दास, जो स्वयं "पंछियों" की तलाश में निकले हैं, यों बातें करते हैं—

बनिता०—"अरे भाई गोसाँइयन पर तो ससुरी सब आपै भहराई पड़थीं पवित्र होवे के वास्ते, हमका पहुँचावें।"

धन—"गुरु, इन सबन का भाग बड़ा तेज है, मालो लूटैं मेहररुवौ लूटैं।......"

बनिता०...."कुछ कहै की बात नहीं है। भाई मन्दिर में रहै से स्वर्ग में रहै। खाए के, अच्छा पहिरे के परसादी से महाराज कहाँ गाढ़ा तो पहिरवै न करियें, मलमल नागपुरी ढाँके पहिरियैं, अतरे फुलेल केसर परसादी थोड़ा चाभो, सब से सेव की ल्यों, ऊपर से ऊ बात का सुख अलगै है।"

इसी के साथ पढ़िये, राधाचरण गोस्वामी के प्रहसन—"तन मन धन सब गुसाईं जी के अर्पण" को, तो यह स्पष्ट हो जायगा कि भारतेन्दु-युग की नयी चेतना जहाँ साम्राज्यविरोधी थी, वहाँ वह सामन्त विरोधी भी थी। वह उस सड़ियल ढाँचे को बदलना चाहती थी जिसने हिन्दुस्तानियों को अँग्रेज़ों का गुलाम बना रखा था।

भारतेन्दु ने एक व्याख्यान में बहुत सही कहा था—"कोई धर्म की आड़ में, कोई देस की चाल की आड़ में, कोई सुख की आड़ में छिपे

हैं। उन चोरों को वहाँ वहाँ से पकड़-पकड़ कर लाओ। उनको बाँध बाँध कर कैद करो।"

यह किन लोगों को पकड़ कर कैद करने की तरफ भारतेन्दु ने इशारा किया है?

उन लोगों को जो घर में रहते हुए घरवालों के दुश्मन थे, जो नीच स्वार्थों के लिये साम्राज्यवाद की गुलामी करने को तैयार थे। भारतेन्दु का आदेश इन नमकहरामों को कैद कर लेने का था।

भारतेन्दु जानते थे, यह काम आसान नहीं है। इसलिए उन्होंने देशभक्तों से बलिदान और त्याग की माँग करते हुए ये स्मरणीय वाक्य कहे थे; "हम इससे बढ़ कर क्या कहें कि जैसे तुम्हारे घर में कोई पुरुष व्यभिचार करने आवे तो जिस क्रोध में उसको पकड़ कर मारोगे और जहाँ तक तुम्हारे में शक्ति होगी, उसका सत्यानाश करोगे, उसी तरह इस समय जो-जो बातें तुम्हारे उन्नति पथ की काँटा हों उनकी जड़ खोद कर फेंक दो। कुछ मत डरो। जब तक सौ दो सौ मनुष्य बदनाम न होंगे, जाति से बाहर न निकाल दिये जायँगे, दरिद्र न हो जायँगे, कैद न होंगे, वरंच जान से न मारे जायँगे तब तक कोई देश भी न सुधरेगा।"

भारतेन्दु ने अपने वाक्यों पर खुद आचरण किया था। वह सार्वजनिक सभाओं, मेलों-ठेलों में जाकर नाटक दिखाते थे, भाषण करते थे, जनता को उत्साहित करते थे। समाज के ठेकेदारों ने उन्हें "क्रिस्तान" घोषित कर दिया था। राधाचरण गोस्वामी को उनके पिता भारतेन्दु से मिलने नहीं देते थे, इसलिये कि भारतेन्दु के साथ बैठा भी क्रिस्तान हो जायगा। नतीजा यह कि राधाचरण गोस्वामी ने चोरी से भारतेन्दु से मुलाकात की। यह एक ही घटना यह बताने के लिये काफी है कि भारतेन्दु के चुटीले नाटकों से काशी जैसे नगर के प्राचीनतावादी कैसे खीभ उठे थे। उधर अँग्रेज़ हुकूमत ने "कवि-वचन-सुधा" पर अपना क्रोध प्रकट करके अपने साहित्य-प्रेम का अलग परिचय दिया था।

साहित्य जनता की सेवा के लिए है—भारतेन्दु का यह नारा उनकी तमाम रचनाओं में साफ सुना जा सकता है।

साहित्यकार अपने सामाजिक जीवन में भी जनता की सेवा करे—यह नारा उनके आचरण में देखा जा सकता है।

आज जो लोग साहित्य में "तटस्थता" की बातें करते हैं। संघर्ष से दूर रह कर शाश्वत साहित्य रचने की बातें करते हैं, ऑल इण्डिया रेडियो में हज़ार रुपये तनख्वाह पाकर अरविन्द योग द्वारा संस्कृति के उद्धार की बातें करते हैं—उनके पास भारतेन्दु के इन अग्नि-वाक्यों के लिये क्या जवाब है? उनके जीवन के आचरण क्या हैं? वे जनता की सेवा कर रहे हैं या औपनिवेशिक गुलामी को कायम रखने में विदेशी पूँजी की मदद कर रहे हैं? हम उनसे पूछना चाहते हैं कि जब प्राचीन संस्कृति की ऊँची-ऊँची बातें करते हैं तब आप भारतेन्दु की इन सीधी सादी बातों को क्यों भूल जाते हैं?

आज जब साम्राज्यवादी आततायियों और उनके देशी चाकरों के खिलाफ़ समूची एशिया में स्वाधीनता और शान्ति के लिये संघर्ष छिड़ा हुआ है, तब हम भारतेन्दु के उन वाक्यों को गर्व के साथ याद करते हैं और कहते हैं—आज़ादी और गुलामी के बीच न साहित्य तटस्थ रह सकता है, न साहित्यकार! आज हमें न सिर्फ़ नयी चेतना के वाहक साहित्य की रचना करनी है बल्कि उस पर अमल भी करना है।

भारतेन्दु के इन शब्दों का आधार समाज सेवा की भावना थी और यह भावना साम्राज्यवादी जुएँ के नीचे जनता को पिसते हुए देख कर पैदा हुई थी। देशभक्ति की यह क्रान्तिकारी चेतना अँग्रेज़ी राज्य की न्यामत समझने वाली बुद्धि से न पैदा हुई थी।

यही सबब है कि कविवचन-सुधा में उन्होंने सामाजिक जागरण के विषय गिनाकर लेखकों का आह्वान किया था कि उन पर ग्रामीण बोलियों में कविताएँ रच कर वे अपढ़ किसानों और स्त्रियों तक जागरण का सन्देश पहुँचाएँ।

उन्होंने साम्राज्यवादी सामन्ती व्यवस्था में जकड़े हुए निरक्षर किसानों को ध्यान में रखते हुए लिखा था—

"यह बात सब लोग जानते हैं कि जो बात साधारण लोगों में

फैलेगी, उसी का प्रचार सार्वदेशिक होगा और यह भी विदित है कि जितना ग्राम गीत शास्त्र फैलते हैं और जितना काव्य को संगीत द्वारा सुन कर चित्त पर प्रभाव होता है उतना साधारण शिक्षा से नहीं होता। इससे साधारण लोगों के चित्त पर भी इन बातों का अंकुर जमाने को इस प्रकार से जो संगीत फैलाया जाय तो बहुत कुछ संस्कार बदल जाने की आशा है।"

भारतेन्दु के ये विचार हिन्दुस्तान की विशेष सामाजिक परिस्थितियों से पैदा हुए थे। उन्होंने किसी किताब से नकल कर उन्हें "कवि-वचन-सुधा" में न छाप दिया था। आज भी जब निरक्षरता का राज करीब-करीब ज्यों का त्यों बना हुआ है और किसानों की सामन्ती दासता से मुक्त करने का प्रश्न पहले से और भी तीव्र हो उठा है, तब हिन्दुस्तान के लेखक भारतेन्दु के ग्रामगीतों वाले सुझाव पर ध्यान दिये और उस पर अमल किये बिना नहीं रह सकते। खासकर ग्रामकवियों से निकट सम्बन्ध कायम करना, उनकी रचनाओं को प्रकाश में लाना, उन्हें शहर की जनवादी साहित्य-संस्थाओं के साथ संगठित करना यह आज के सभी देश भक्त लेखकों का कर्तव्य है। इससे ग्राम-साहित्य और नगर-साहित्य, दोनों को लाभ होगा, दोनों एक दूसरे को समृद्ध करेंगे और उनके बीच की दूरी भी खत्म करने में मदद मिलेगी।

भारतेन्दु-युग का सबसे विकसित साहित्यिक रूप निबन्ध थे। निबन्ध रचना का यह कौशल उन कलाकारों का अपना था और पत्रकारिता की भूमि पर वह फला फूला था। भारतेन्दु-युग के लेखक पत्रकार भी थे और साहित्यकार भी थे। दो-दो चार-चार आने की पत्रिकाएँ निकाल कर वे अपना साहित्य जनता तक पहुँचाते थे और आये दिन की समस्याओं पर पत्रकारों की तरह लेख आदि भी लिखते थे। नये जमाने में पत्रों पर बड़े पूँजीपतियों के नियन्त्रण ने पत्रकारों को मशीन का पुर्जा बना दिया है और उनकी साहित्यिक रचना शक्ति को बराबर कुचल डालने की कोशिश की है। भारतेन्दु के जीवन से हम यह भी सीखते हैं कि प्रतिभाशाली साहित्यकार पत्रकारिता से दूर नहीं रह

सकते। पत्रों के ऊपर बड़े पूँजीपतियों का नियन्त्रण खत्म होने पर साहित्य और पत्रकारिता के बीच की गहरी खाई भी पट जायगी और अच्छे लेखक पत्रकार बनना वैसे ही फख्र की बात समझने हैं जैसे सोवियत लेखक इलिया एरनबुर्ग, फादायेव वगैरह समझते हैं।

भारतेन्दु और उनके युग का सही मूल्याङ्कन करने में एक बहुत बड़ी बाधा यह है कि उनके सबसे प्रभावशाली और विकसित रूप,—निबन्ध साहित्य—के संकलन की तरफ प्रकाशक आदि बेखबर रहे हैं। विश्वविद्यालय या लेखकों की जनवादी संस्थाएँ इस काम को उठावें तो पुराने पत्रों की जिल्दों में बन्द हिन्दी के विशाल निबन्ध साहित्य का उद्धार हो सकता है। उससे न सिर्फ साहित्य के इतिहास की एक बहुत ही महत्वपूर्ण कड़ी जनता के सामने आयेगी बल्कि यह निबन्ध-साहित्य आधुनिक लेखकों के लिए एक महान् प्रेरणा बनेगा।

भारतेन्दु की सबसे सुगठित, कलापूर्ण और प्रभावशाली रचनाएँ ये निबन्ध ही हैं। "स्वर्ग में विचार सभा का अधिवेशन," ......"एक अद्भुत अपूर्व स्वप्न," आदि उनकी अमर *कृतियाँ हैं। इनमें हास्य और व्यंग्य* की छटा देखते ही बनती है, साथ ही सामाजिक उद्देश्य भी गहराई के साथ इनमें प्रकट होता है। सुनिए, एक साथ ही देवपूजा और जमींदार पूजा पर कैसा व्यंग्य किया है। देवताओं की दो पार्टियों का जिक्र करते हुए लिखते हैं :—

"कँसरवेटियों का दल प्रबल था; इसका मुख्य कारण यह था कि स्वर्ग के जमींदार इन्द्र, गणेश प्रभृति भी उनके साथ योग देते थे, क्योंकि बंगाल के जमींदारों के भाँति उदार लोगों की बढ़ती से उन बेचारों को *विविध और सर्वोपरि बलिभाग न मिलने का डर था।*"
(स्वर्ग में विचार सभा का अधिवेशन)

बलिभाग लेने के लिये लालायित जमींदार, किसान की कमाई खाने वाले आराम तलब प्राचीनतावादी—ये थे भारतेन्दु के व्यंग्य के शिकार। क्या यह स्पष्ट नहीं है कि जो लोग सामन्त विरोधी संस्कृति रचना

चाहते हैं, वे इन निबन्धों से बहुत कुछ सीख सकते हैं और उन्हें प्रकाश में लाना सबसे पहिले उनका कर्त्तव्य है ?

भारतेन्दु-युग की जनवाद परम्परा का उद्धार करना, उसकी रक्षा करना, उसे आगे बढ़ाना हिन्दी के सभी जनवादी लेखकों का फ़र्ज है। भारतेन्दु ने जिस सामाजिक व्यवस्था पर चोट करना शुरू किया था, उसके बन्धन ढीले होने के बदले और कस गये हैं, यहाँ तक की तनाव ज्यादा न सह सकने पर अब वे टूटने वाले हैं। हिन्दुस्तान की विशाल जनता बाढ़ और दुर्भिक्ष के चँगुल में फँसी हुई है। साम्राज्यवाद ने हिन्दुस्तान को खेतिहर देश बना कर रखा और अपनी मिलकियत कायम रखने के लिये सामन्ती जोंकों से किसानों का शोषण कराया। देश का बँटवारा करके, लाखों नर-नारियों की हत्या करके या उन्हें बेघरबार बना कर आज साम्राज्यवाद तीसरे युद्ध के लिये यहाँ की पीड़ित जनता को फिर बलि का बकरा बनाना चाहता है। एशिया के स्वाधीनता-आन्दोलन से भय खाकर साम्राज्यवाद ने पैंतरा बदला और जैसे अमरीकियों ने फ़िलीपीन को आज़ाद किया था, उसी तरह अँग्रेजों ने गांधीवादी तरीके से न सिर्फ हिन्दुस्तान को, बल्कि पाकिस्तान और बर्मा को भी, उधर डचों ने इन्डोनीशिया को "आज़ाद" किया। औपनिवेशिक व्यवस्था ज्यों की त्यों कायम रही और जैसे-जैसे विश्व-साम्राज्यवाद संकट में फँसता गया, उसका एशियाई पिछवाड़ा चरमरा कर बैठने लगा। जनता अपने भाग्य का निर्माण स्वयं करने लगी। चीन की विशाल जनता ने माओ जे दुंग के नेतृत्व में अपने ४५ करोड़ कंधों से सामन्ती और साम्राज्यवादी गुलाम का जुआँ उतार फेंका।

हिन्दुस्तान की सामाजिक परिस्थितियों की यह माँग है कि भारतेन्दु की साम्राज्यविरोधी परम्परा को एक और ऊँचे स्तर पर आगे बढ़ाया जाय। हिन्दी के लेखक निःसन्देह उसे आगे बढ़ायेंगे और अपने साहित्य में जनता की असहनीय अवस्था और उसकी आशाओं और संघर्षों का चित्रण करेंगे। इस तरह भारतेन्दु की पताका लिये हुए

साम्राज्य विरोधी लेखक अपने साहित्य को स्थायी शान्ति, वास्तविक स्वाधीनता, जनता का राज प्राप्त करने के लिये एक जबर्दस्त प्रेरणा की एक अमोघ अस्त्र बना देंगे। आधुनिक हिन्दी साहित्य के जन्मदाता भारतेन्दु के प्रति आज यही हमारा उत्तरदायित्व है और उसे निबाह कर ही हम अपने को उनका उत्तराधिकारी कहलाने के योग्य साबित कर सकते हैं।